चाणक्य नीति

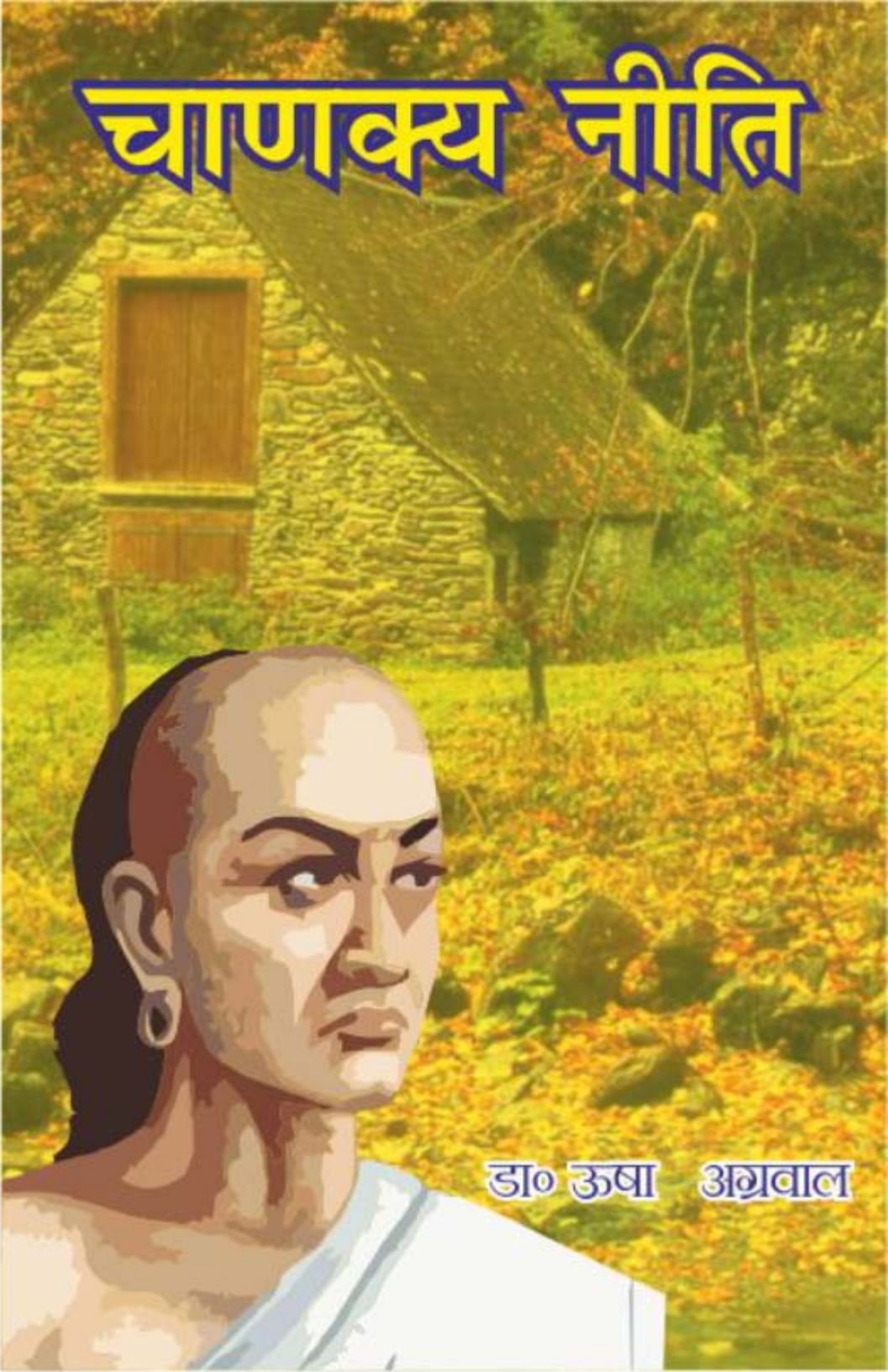

डा० ऊषा अग्रवाल

आचार्य चाणक्य

राष्ट्र सृष्टा एवं भविष्य दृष्टा

('चाणक्य सूत्राणि' पर आधारित)

डॉ. ऊषा अग्रवाल

सुलतान चन्द द्रौपदी देवी एजूकेशन फाउन्डेशन
नई दिल्ली

मूल्य : ₹ 100.00

ISBN : 978-93-5161-017-5

प्रकाशक :

सुलतान चन्द द्रौपदी देवी एजूकेशन फाउन्डेशन

23, दरिया गंज, नई दिल्ली-110002

वितरक :

सुलतान चन्द एंड संस

23, दरिया गंज, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : 23243183, 23247051, 23266105, 23277843, 23281876

फैक्स : 011-23266357

e-mail :sultanchand74@yahoo.com

मुद्रक : न्यू ए. एस. ऑफसैट प्रैस, दिल्ली–92

लेजर टाइपसेटिंग : **ADD Computers**

विषय सूची

1.	उद्‌बोधन	1-2
2.	आचार्य चाणक्य और उनका नैतिक–राजनैतिक चिन्तन	3-13
3.	नेतृत्व क्षमता एवं कर्मचारियों की नियुक्ति की निपुणता	14-20
4.	राजा और राजसंचालन	21-48
5.	मित्रम्	49-57
6.	शत्रुः	58-66
7.	धर्मः	67-78
8.	अर्थाः–धनं–वित्तम्	79-93
9.	विद्या	94-101
10.	वाणी	102-107
11.	स्वास्थ्य	108-115
12.	राष्ट्रीय कार्यों का आधार	116-146
13.	मूर्ख	147-153
14.	आशा–पाशः–बन्धन	154-156
15.	स्वभावो दुरतिक्रमः	157-158
16.	नास्त्यहंकारसमो शत्रुः	158-160

उद्‌बोधन

पुरानी रुढ़ियों–पद्धतियों को तथा शत्रुओं को नष्ट करना, जो चुभे–पीड़ा दे उसे नष्ट–भ्रष्ट करना, का जीवन सिद्धान्त था आचार्य चाणक्य का। चाणक्य के जीवन से एक प्रसिद्ध प्रसंग सिद्ध करता है कि वो कितने प्रबल–असहनशील, विरोधी (inimical) थे और वह कितनी बाधारहित सुरक्षित राह बनाना चाहते थे अपने लक्ष्य–उद्देश्य प्राप्ति के लिए। सम्भवतः वह खण्डहरों और प्राचीन परम्पराओं को गिरा कर अधिक पुख्ता लाभकारी संस्थाएँ उन्नति के लिए बनाना–खड़ी करना चाहते थे–

Old order changeth yielding place to new
Lest one good custom should corrupt the world.

चाणक्य के विषय में कुशा घास को हटाने–नष्ट करने का अथक प्रयास एवं नन्द के भोज में अपमानित किए जाने पर प्रतिशोध द्वारा प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट कर डालना, यह चाणक्य के द्वारा अपना क्रोध दिखाने एवं बदला–प्रतिशोध लेने का तरीका था। चाणक्य का जीवन सिद्धान्त था–

''मनसा चिन्तितं कार्यं वाचा नैव प्रकाशयेत।
मन्त्रवत् रक्षयेत गूढं कार्ये चापि नियोजयेत॥''

मन से सोचे कार्य को वाणी से प्रकाशित न करें। मन्त्र की तरह उसे गूढ रूप से रखें और उसे कार्यान्वित करें।

निष्कर्षतः, उन्नति पथ पर अग्रसर होने के लिए शत्रुओं–प्रतिद्वन्द्वियों को नष्ट करना अत्यावश्यक है। ठीक समय पर शत्रुओं का डट कर मुकाबला किया जाना चाहिए, समय शक्ति और साधनों को गवांए बिना, अन्यथा अपनी जड़ें जमाए हुए शत्रु अधिक शक्ति संचय कर लेता है और बल और उत्तेजना (Vengeance) से आक्रमण करता है।

प्रतिज्ञा, निर्णय और उद्देश्य– दृढ़ता से प्रतिज्ञा करने के बाद उसे प्राण–प्रण से पूरा करने पर जुट जाओ इससे आपको अपार आत्मविश्वास और आनन्द प्राप्त होगा। विजयी होने से हमारा अन्दर से विकास होता है हमें अन्दर से शक्ति प्राप्त होती है। चाणक्य का जीवन दृष्टान्त

यह सीख देता है कि कैसे दृढ़ प्रतिज्ञा के बल पर, ज्ञान व बुद्धि के सहारे, बिना किसी सैन्य संसाधन के, बिना धन-वैभव के, स्वयं के बुद्धि बल पर ही अपार सेना व ऐश्वर्य सम्पन्न नन्द वंश के राजा घनानन्द को तथा इसके सम्पूर्ण कुल को नष्ट करके मौर्य वंश के चन्द्रगुप्त को सिंहासनारुढ़ कर आदर्श राज्य की पुख्ता नींव डाली-

ले ली तूने आजादी बिना खड्ग बिना ढ़ाल।
नालन्दा-तक्षशिला के सन्त तूने कर दिया कमाल॥

सर्वगुण सम्पन्न राजा की नियुक्ति में उसे भली प्रकार ज्ञात था कि उसमें क्या-क्या गुण अनिवार्य हैं- सुशिक्षित राजा जो सभी प्राणियों के हित के लिए तत्पर हो। वह प्रजा की शिक्षा तथा राज-प्रशासन में कुशल हो-

विद्या विनीतो राजा हि प्रजानां हिते रतः।
अनन्यां पृथिवीं भुङक्ते सर्वभूतहिते रतः॥ वृद्धसंयोग

वह अपार भूमि विजय कर सकता है और चिरकाल तक शासन कर सकता है। अतः उसे काम-क्रोध-लोभ-मान-मद-अमर्ष त्यागना चाहिए। एक अकेला ही राजा राज्य शासन कुशलता पूर्वक नही चला सकता जैसे कि एक चक्र से ही रथ नहीं चलता- **''सहायसाध्यं राज्यत्वं, चक्रं ह्येकं न प्रवर्तते।''** अतः विभिन्न व्यक्ति समुदाय से विभिन्न कार्य किए-करवाए जाने चाहिए।

राजा को सिंह की भांति-स्वयमेव सत्ता सम्भालने में निर्भीक निडर होना आवश्यक है। राष्ट्र की अर्थव्यवस्था (वार्ता) के सम्यक् ज्ञाता थे आचार्य चाणक्य। हमें आचार्य चाणक्य के जीवन से प्रेरणा लेनी और राष्ट्रोन्नति के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। अपने दृढ़ संकल्प-निर्णय से ही असंम्भव को सम्भव बना सकते हैं और कठिनाईयों को चुनौती दे सकते हैं। आप भी राष्ट्रहित चिन्तक बनें इसी प्रेरणा के साथ-

भवदीया शुभाकांक्षिणी
ऊषा अग्रवाल

आचार्य चाणक्य और उनका नैतिक-राजनैतिक चिन्तन

आचार्य चाणक्य के नाम से अधिकांश भारतीय 'सुविख्यात राजनीतिज्ञ' के रुप में परिचित हैं। यही नहीं केवल, अपितु वे भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ थे जो जन संस्कृति को राजनीति बनाकर धर्म का रुप देना चाहते थे। चाणक्य के नीतिवचन यदा-कदा कहावतों के रुप में समुद्धृत भी किए जाते हैं। इनकी राजनीतिपरक-नीतिपरक रचना '**चाणक्य सूत्राणि**' इसी उद्देश्य से रची गई है। इस ग्रन्थ में धर्म, आचरण-व्यवहार, राजनीति, राजधर्म, जातिधर्म, समाजधर्म आदि से सम्बन्धित सूत्र हैं। लघुकाय सूत्र गम्भीर ज्ञान को समेटे हुए हैं।

जीवन परिचयः- वैसे तो इतिहास व विद्वन्मण्डली में चाणक्य सुविख्यात हैं परन्तु उनके जन्म-स्थान, जीवन व कार्यकलापों के विषय में जनसामान्य जानकारी नहीं है। चाणक्य का मूल नाम 'विष्णु गुप्त' व चणक ऋषि के पुत्र होने से 'चाणक्य' व कुटल गोत्रीय होने से 'कौटिल्य' इनके उपनाम हैं। इन्हें 'महाज्योतिषी' भी कहा जाता है क्योंकि अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इन्होंने किन्हीं ग्रह-नक्षत्रों की परवाह नहीं की थी और उचित अवसरों को ही उपयुक्त जानकर बड़े-बड़े कार्य कर डाले थे।

आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य का जन्म आज से लगभग चौबीस सौ वर्ष पूर्व माना जाता है लेकिन जन्म स्थान का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उस समय तक्षशिला का विश्वविद्यालय विद्याओं का प्रमुख केन्द्र माना जाता था। संस्कृत के प्रथम व्याकरण, 'अष्टाध्यायी' के प्रणेता 'पाणिनी' इसी विश्वविद्यालय में आचार्य थे। 'चाणक्य' ने भी इसी विश्वविद्यालय में अध्ययन किया था। इनके बालपन व युवावस्था के विषय में अधिक जानकारी उपलब्ध नही है। ऐतिहासिक तथ्यों से केवल यही ज्ञात है कि इन्होंने 'नन्दवंश' का नाश करके मौर्य साम्राज्य को स्थापित करने में चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता की थी।

भगवान् बुद्ध के समय में मगध (आधुनिक बिहार) में, हिमालय की तराई में मोरीय वंशी क्षत्रियों का छोटा सा संघ राज्य था। चन्द्रगुप्त इसी वंश का एक महत्वाकांक्षी युवक था। मोरीय वंशी होने के कारण ही उसे ''मौर्य'' कहा जाता है। यह धारणा गलत है कि वह राजा नन्द की 'मुरा' नामक दासी का पुत्र था।

चन्द्रगुप्त ने प्रजा पीडक, मगध के नन्दवंशीय राजा को उखाड़ने का संकल्प किया था। इस उद्देश्य से उसने विद्रोहियों की सेना संगठित करके मगध पर चढ़ाईयाँ की थीं, परन्तु हर बार उसे परास्त होना पड़ा था। राजा नन्द ने उसे पकड़ने तथा मार डालने के आदेश दिए थे। वह वहाँ से भागकर तक्षशिला आ पहुँचा था। वहाँ अपने जैसे, धुन के पक्के चाणक्य से उसकी आकस्मिक भेंट हुई। कहते हैं, चाणक्य एक बार नन्द के दरबार में ब्राह्मणों के भोज में सम्मिलित होने गया था लेकिन उसकी शक्ल-सूरत देखकर नन्द ने उसे अपमानित करके निकाल दिया था। तब चाणक्य ने क्रोध में आकर अपनी शिखा खोल कर प्रण किया था कि जब तक वह नन्द वंश का नाश नहीं कर देगा, तब तक शिखा नहीं बाँधेगा। इस प्रकार नन्द वंश के दो प्रबल शत्रुओं का विचित्र संयोग हो गया।

चन्द्रगुप्त-चाणक्य का मिलनः- यह संयोग इस प्रकार हुआ बताते हैं कि एक बार चिन्तामग्न चन्द्रगुप्त कहीं जा रहा था तो मार्ग में उसने देखा कि एक ब्राह्मण युवक जमीन की घास खोद-खोद कर उखाड रहा है और उसकी जड़ों में मठ्ठा डाल रहा है। यह देख चन्द्रगुप्त ने कुतुहल पूर्वक पूछा कि वह ऐसा क्यों कर रहा है? तो ब्राह्मण युवक ने उत्तर दिया कि वह अपने विवाह के लिए कन्या की खोज में जा रहा था तो इस कुशा घास के नुकीले डंठल मेरे पाँव में चुभने से लहुलुहान होने से मेरी यात्रा में बाधा पड़ गई, सो मै इस विघ्न को समूल उखाड़ कर रहुँगा। इससे चन्द्रगुप्त समझ गया कि यह सनकी और दृढ़ प्रतिज्ञ मनुष्य बहुत काम का है और दोनों में मैत्री हो गई। दोनों का उद्देश्य भी एक समान ही था-नन्दवंश का नाश। अब, दोनों ने ही इसकी योजना बनानी शुरु कर दी। उसी समय भारत पर अलक्सान्दर (सिकन्दर) का आक्रमण हो रहा था और उसकी फौजें तक्षशिला तक आ पहुँचीं थीं। कहते हैं कि चन्द्रगुप्त ने अपनी योजना सिकन्दर को भी बताई थी लेकिन किसी बात पर विवाद हो जाने से वह सम्भव न हो सका।

सिकन्दर की मृत्यु व उसकी सेना का बिखरनाः- इसके उपरान्त चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त ने मिलकर सिकन्दर के सैन्य-संगठन एव संचालन के अनुसार ही अपनी सेना संगठित की। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने पंजाब व सिन्ध के राजाओं की सहायता से सिकन्दर की बची-खुची सेना को मार भगाया। फिर इन्होंने पंजाबियों की बड़ी सेना बनाई और नन्द साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र को जा घेरा। इस युद्ध में राजा नन्द मारा गया और मगध का राज्य चन्द्रगुप्त के हाथ में आ गया। परन्तु नन्द का राक्षस नामक मन्त्री फिर भी काबु में नहीं आया और लुके-छिपे चन्द्रगुप्त को मारने की चालें खेलता रहा। तब चाणक्य ने अपनी कूटनीति से उसे काबू कर उसे पुनः चन्द्रगुप्त का महामात्य बना दिया।

सत्तारुढ़ चन्द्रगुप्त का शासन विस्तार:- चाणक्य की सलाह से चन्द्रगुप्त मौर्य ने राज्य का विस्तार किया और शासन को सुगठित किया। शासन व्यवस्था के बारे में चाणक्य ने 'अर्थशास्त्र' की रचना की जिसे ''कौटिलीय अर्थशास्त्र'' के नाम से जाना जाता है। 'अर्थशास्त्र' से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन अत्यन्त सुव्यवस्थित था। राजा अपने मन्त्री नियुक्त करता था और मन्त्री परिषद् की सहायता से शासन करता था। अमात्यों की योग्यता तथा परिषद् के अधिकारों व कर्तव्यों का 'अर्थशास्त्र' में विस्तृत विवेचन है।

चन्द्रगुप्त के दरबार में अलक्सान्दर के उत्तराधिकारी सेल्युकस का राजदूत मेगस्थनीज भी बैठता था। उसने अपने संस्मरणों में लिखा है- भारत वर्ष के लोग कभी झूठ नहीं बोलते, घरों में ताले नहीं लगाते और न्यायालयों में बहुत कम जाते हैं।

चाणक्य ने अनुशासन एवं शासन के ऐसे नियम बनाए थे कि कोई किसी पर अत्याचार नहीं कर सकता था। शासन व्यवस्था ऐसी सुचारु थी जिसकी मिसाल आज भी उदाहरण के रुप में पेश की जाती है।

चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य को शत्रुओं से निरापद करके और राक्षस को उसका महामात्य बनाकर स्वयं सन्यास ग्रहण कर लिया था। किन्तु आश्रम में रहते हुए भी वह चन्द्रगुप्त को राजकाज में परामर्श दिया करता था क्योंकि चन्द्रगुप्त उन्हें गुरु रुप में मान कर उनके संरक्षण में ही राजकाज भली प्रकार चला पाता था और स्वयं को सुरक्षित महसूस करता था।

चन्द्रगुप्त के बाद बिन्दुसार:- चन्द्रगुप्त के बाद उसके पुत्र बिन्दुसार ने राजकाज सम्भाला। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार चाणक्य उसके शासन में भी महामात्य रहा था और उसने 16 राज्य जीतकर पूर्व से पश्चिम तक का इलाका बिन्दुसार के शासन में मिला दिया था। परन्तु जैन ग्रन्थों के अनुसार चाणक्य की मृत्यु चन्द्रगुप्त के शासन काल में ही हो चुकी थी।

भारत का कल्याण:- सिकन्दर का भारत पर आक्रमण भारत के लिए वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि(1) चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को प्रेरित कर सिकन्दर को भारत से भगा दिया। (2)सिकन्दर को सहयोग देने वाले भारतीय देश-द्रोहियों को भी मिटा(3) परस्पर कलहमान, राज्यों को सुसंगठित करके और चन्द्रगुप्त को उसका एकछत्र सम्राट् बनाकर संसार के समक्ष सूर्य के समान तेजस्वी, सर्वश्रेष्ठ, आदर्श राजचरित्र का उदाहरण प्रस्तुत किया था।(4) चन्द्रगुप्त के शासन के लिए सुगम तथा शासन-विधान में सौष्ठव लाने के लिए राजनैतिक साहित्य का शिरोमणि '**कौटलीय अर्थशास्त्र**' रचकर अमरता प्राप्त कर ली।

समाज से जुडा मानव हित:- मानव का देह धारण तभी सार्थक है जब वह, उसे पालने पोसने, जन्म देने वाले समाज का हित कर्ता हो और अपने को समाज के हित मे विलीन कर दे। यदि मूढ़ता अथवा स्वार्थवश अपने हित को समाज के हित से अलग रखने का प्रयत्न

करता है तो उसकी इस दुष्प्रवृति से उसका व्यक्तिगत हित भी नष्ट हो जाता है और उसकी बहुमूल्य मानवता भी नष्ट हो जाती है।

नैतिक-राजनैतिक शिक्षा अनिवार्यः- मानव को सामाजिक हित से अलग करना उसे स्वार्थी और समाजद्रोही बना देता है। जीवन की धन्यता तो समाज के हित में आत्म-समर्पण करने में है। व्यक्ति और समाज में हित का पृथक्-पृथक् होना-द्वैविध्य होना ही मानव समाज का आत्मघात है। सुशिक्षा ही इस आत्मघाती रोग से बचाने वाली अचूक औषधि है। सत्साहित्य के द्वारा सुशिक्षा से इस रोग को मिटाया जा सकता है। आचार्य चाणक्य ने राष्ट्र को सुशिक्षित करने के लिए अपना नैतिक-राजनैतिक साहित्य रचा। इस प्रकार मानव समाज की नैतिक व राजनैतिक शिक्षा व सेवाओं के कारण भारत के राजनैतिक गुरु का पद प्राप्त हो गया।

नाभिषेकेन संस्कारः सिंहस्य क्रियते वने
विक्रमार्जित सत्वस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता।

सिंह का वन में कोई अभिषेक नहीं करता और कोई उसे राज्य दीक्षा नही देता। अपने लिए अपने ही भुजबल से सम्मानित पद का उपार्जन करने से सिंह स्वयमेव मृगेन्द्र बन बैठता है। यह श्लोक आचार्य चाणक्य के चरित्र के लिए अक्षरशः सत्य है।

चाणक्य की रचनाएँ एवं उनकी विचार धाराः- स्वभावतः कुटिल-दक्ष-कुशल होने से कौटल्य गोत्रिय चणक पुत्र चाणक्य ने भारत के राजाओं व समाज को सिखाने के लिए

(1) चाणक्य नीति (2) लघु चाणक्य (3) वृद्ध चाणक्य (4) अर्थशास्त्र

(5) चाणक्य सूत्राणि आदि अनेक राजनीतिपरक ग्रन्थ लिखे।

राजाओं को राजनीति की शिक्षा देना, वास्तव में, राजा बनाने वाले समाज को ही राजनीति सिखाना है। समाज की अविभाज्य इकाई व्यक्ति को राजनीति सिखाने एवं नैतिकता जाग्रत करने का प्रयोजन था उनका। राजनीति में ही सभी शास्त्र समाहित थे **'सर्वे पदाः हस्तिपदे निमग्नाः'** के सिद्धान्तानुसार। मानव सन्तान को मनुष्यता से समृद्ध करने वाले समस्त शास्त्र तथा समस्त धर्म, राजनीति पर ही आश्रित हैं।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्तानां योग क्षेम साधनो दण्डः। तस्य नीतिः दण्डनीतिः, अलब्ध लाभार्था, लब्धपरिरक्षणी रक्षितविवर्धनी, वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च। तस्यामायत्ता लोकयात्रा तस्माल्लोक यात्रार्थी नित्यमुद्यतदण्डः स्यात् (कौ. अर्थ 1.4)

अर्थात् दण्डनीति का स्वरुप है कि आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तीनों के योगक्षेम, दण्ड (अर्थात् सुव्यवस्थित राजशक्ति) से ही सुरक्षित रहते हैं। संसार दण्डमय होने पर ही आन्वीक्षिकी (आत्मविद्या) आदि में प्रवृत्त होता है, नहीं तो नहीं। उस दण्डनीति का उपदेष्टा

शास्त्र भी दण्डनीति ही होता है। दण्डनीति के चार फल होते हैं- अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा, रक्षित का वर्धन, तथा वर्धित का लोककल्याणकारी कार्यों में विनियोग। लोगों की जीवन यात्रा दण्डनीति, दण्डनीति की सुरक्षा-सुप्रयोग पर ही निर्भर होती है। इसलिए राजनीति समस्त धर्मो का मूल है। इसलिए राजनीति सम्पन्न लोग सदा ही अन्याय-अत्याचार के लिए दण्ड के लिए उद्यत रहें।

क्योंकि राजनीति ही समस्त शास्त्रों तथा धर्मो की सुरक्षा का सुनिश्चित समाश्वासन है, इसलिए ज्ञान-कर्म समुच्चयवादी आचार्य चाणक्य ने अपने राष्ट्र को राजनीति सिखाना ही अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य बना लिया था। आचार्य चाणक्य की राजनीति का सारांश समाज को इस प्रकार सुशिक्षित करना था कि वह अपनी राजशक्ति को केवल उन लोगों के हाथों में सौंपे, जो अपने आपको समाजहित में लगा दें।

भारतमाता ग्रामवासिनी:- समाज ही व्यक्ति का विकास क्षेत्र है। जहाँ समाज नही वहाँ व्यक्तियों के पास सामाजिक कर्तव्य नहीं। समाजहीन लोग क्षूद्र स्वार्थो में उलझे पड़े रहते हैं। असामाजिक व्यक्तियों के प्रभाव से उनके समाज के हित को अनाधिकारी लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थो का साधन बनाने का अवसर पा लेते हैं। समाजचिन्ता प्रसंग में यह जानना अत्यावश्यक है कि ग्राम ही नगर का निर्माता है, नगर नहीं। नगर तो समाज हीन, परस्पर सम्बन्धहीन संस्था है। नगरों का निर्माण, भोगी राजाओं के स्वार्थ से हुआ है और होता है। भोग लक्ष्यवाली राज्य संस्थाएँ नगरों को तो बढ़ावा देती चली जाती हैं और समाजरचना के स्वाभाविक क्षेत्र ग्रामों की ओर दुर्लक्ष्य करके उन्हें उजड़ने और घटते चले जाने के लिए विवश करके रखती हैं। नगरों को समाज न कहकर 'समज' कहा जा सकता है। समाज केवल उस मानव समुदाय का नाम है जो सम्पद्-विपद् में परस्पर सहानुभूति रखता है।

ग्राम ही सामाजिकता की स्वाभाविक जन्मभूमि हैं। ग्रामों में उत्पन्न होने वाला मानवसमाज ही समाजहित के बन्धनों में आबद्ध रह सकता है। ग्रामों में भिन्न-2 जातियों और सम्प्रदायों के लोगों का कौटुम्बिक सम्बन्धों जैसा परस्पर पवित्र घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इसीलिए ग्राम वाले लोग एक दूसरे को दादा-दादी, चाचा-चाची, ताऊ-ताई, बहन-भाई आदि कौटुम्बिक उपाधियों से ही सम्बोधित करते हैं। यह सामाजिकता शहरों में कहाँ है? ग्रामवासी लोग आकास्मिक विपत्तियों में नगरवासियों के समान आँख बन्द करके न बैठे रहकर एक दूसरे के सहायक बनने के लिए एकत्रित हो जाते हैं।

ग्रामवासी लोग एक दूसरे के विपद्वारण में अपने प्राण तक होम देते हैं। यही तो ग्रामों की सामाजिकता है। संकेत मात्र पर्याप्त है कि नगरवासी सामाजिक बन्धन से पृथक् रहते हैं। वे केवल व्यक्तिगत क्षूद्र स्वार्थों से पूर्ण रुप से अभिभूत रहते हैं, उनके हृदयों में समाज हिताकांक्षा

नाम की कोई चीज नहीं होती। इनकी समाज-हिताकांक्षा इनके नेता बन जाने तक सीमित रहती है। सामाजिक हितों की चिन्ता न रखना मानव का असाधारण अपराध है। यह अपराध इस रुप में है कि सामाजिक हितों की चिन्ता न रखना ही तो समाज का शत्रु बन जाना है। समाज की उपेक्षा ही तो समाज से शत्रुता है। हितकर कर्तव्य से विमुख रहना ही तो समाज का अहित करना है। नगरवासी लोग समाज चिन्ता हीन होने से समाज के शत्रु होते हैं।

आज की राजनीतिः- आज जो भारत में राजशक्ति हथियाने वाले दलों की बाढ़ आई है वह मिथ्या, महत्वाकांक्षी, उज्ज्वलवेषी, सफेदपोश नगरवासियों के ही मन की तो उपज है। राजशक्ति हथियाने वाले दलों की बाढ़ नगर वासियों की असामाजिक मनोवृत्ति का ही तो परिणाम है। शहरी लोगों की असामाजिक मनोवृत्ति ने ही राजशक्ति हथियाने के इच्छुक दलों की सृष्टि की है। यही कारण है कि समस्त राजनैतिक संस्थाएँ नगरों में से ही उपजती हैं और शहरी लोग ही इसके नेता होते हैं। इस का परिणाम यह होता है कि ग्रामों से प्राप्त करों से नगर पाले और बढाए जाते हैं। नगर वालों के प्रभुतालोभ का ही परिणाम आज के द्विखण्डित भारत को भोगना पड़ रहा है। आचार्य चाणक्य की नीति को जो सर्व मान्यता मिली है वह समाज की राजशक्ति प्रभुतालोभी हाथों में न रहने देने की शिक्षा प्रचलित करने की चाह से ही मिली है। आचार्य चाणक्य प्रभुता लोभियों के प्रबल विरोधी थे। इसी कारण चाणक्य ने पर्वतक को नष्ट किया और चन्द्रगुप्त को राज्याधिकार सौंपा। राजशक्ति का नगर हितैषी न होकर समाज हितैषी होने पर ही समाज की शान्ति सम्भव है।

प्रभुसत्ता-राजशक्ति का कर्तव्यः- राजशक्ति सामाजिक हित का ध्यान न रख कर प्रजा के धन का नगर संवर्धन में अपव्यय करती है तो वह समाज के सिर बोझ है। इस प्रकार की नगर पक्षपातिनी राजशक्ति समाज की शान्ति को सुरक्षित नहीं रख सकती। राजशक्ति को समाजसेविका बनकर रहना चाहिए। जो राजशक्ति समाज तथा उसकी धन शक्ति को अपनी मिथ्या प्रतिष्ठा और बाह्य-आडम्बर पूरा करने के काम में लाने लगती है उसका सर्वभक्षी पेट सुरसा के पेट के समान बढ़ता चला जाता है। वह भस्मक रोगी के समान राष्ट्र के समस्त खाद्यांश को स्वयं खाकर राष्ट्र को भूखा-नंगा-निर्बल बना देती है। इस रुप मे वह समाज की शत्रु होती है। समाज को बाह्य तथा आभ्यन्तरिक दोनों प्रकार के शत्रुओं से सुरक्षित रखना राजशक्ति का महान् उत्तरदायित्व है।

जो राजशक्ति दोंनो प्रकार के शत्रुओं से सुरक्षित रखने का उत्तरदायित्व पूरा नहीं करती, वह निश्चित ही राजशक्ति बने रहने योग्य नहीं है। ऐसी कर्तव्यहीन राजशक्ति पर आत्मसुधार का कर्तव्य लाद देना चाहिए। किन्तु समाज ही इस कर्तव्य को निभा सकता है। राजशक्ति पर डाला जाने वाला इस प्रकार का दबाव वास्तव में राज्यसंस्था के निर्माता समाज पर ही आ

जाता है। अब जो समाज स्वयं न सुधरे वह राज्य संस्था को कैसे सुधार सकता है। कोई भी समाज आत्मसुधार किए बिना अपनी राजशक्ति को कदापि नही सुधार सकता। संशुद्ध-उद्बुद्ध समाज का ही यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह अपने समाज में से ही अनैतिकता का बहिष्कार करे और उसे बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के आक्रमणों से होने वाली हानि से सुरक्षित रखे।

व्यक्तियों का हित समाज के हित से पृथक् नही है और समाज का भी व्यक्तियों के हितों से पृथक् कोई हित नही है। यदि कोई राजसंस्था या समाज, व्यक्ति के हित के प्रश्न को निजी व्यक्तिगत प्रश्न कहकर टालता या उसकी उपेक्षा करता है, तो वह राजसंस्था और समाज दोनों ही अपराधी हैं। व्यक्तियों से अलग तो समाज का कोई हित ही नहीं है। आदर्श समाज की रची हुई राज्य संस्था को अनिवार्य रुप से व्यक्तियों की व्यक्तिगत हानियों से अपने आप को ही क्षतिग्रस्त मानने वाला होना चाहिए। उसे किसी भी अत्याचारित नगण्य व्यक्ति तक की क्षतिपूर्ति के लिए एडी से चोटी तक का समस्त बल लगा देना चाहिए। ऐसा करने पर ही राज्य व्यवस्था का कर-टैक्स लेना वैध माना जा सकता है।

जो राज्य संस्था अपने इस महान् उत्तरदायित्व को नही मानती-पालती तो अत्याचारित-पीड़ित व्यक्ति से कर (टैक्स) लेने का अधिकार भी नही है। यदि कोई राष्ट्र अपनी राज्य संस्था को पवित्र रखना चाहे तो उस अत्याचारी से ही अत्याचार पीडित व्यक्ति की हानि पूरी करानी चाहिए अन्यथा राजकोष से उसे पूरा किया जाना चाहिए। यदि वह क्षति अपूरणीय हो तो सम्बन्धित उत्तरदायी राजकर्मचारी को पदच्युत करने का कठोर नियम बनाना चाहिए। इस प्रकार राजशक्ति पर भी एक दण्ड होना चाहिए, तभी वह कर्तव्य-तत्पर रह सकती है। प्रजा की हानि का समाचार पाकर भी उसकी हानि के सम्बन्ध में निर्लिप्त रहने वाली राज्य संस्था स्पष्ट रुप में राष्ट्रद्रोही है, प्रजापीडक है और आसुरी राज्य शक्ति है।

चाणक्य के मतानुसार आदर्श राज्य संस्था की यही कसौटी है कि वह राज्य संस्था के निर्माता समाज में ऐसी शक्ति जगा कर रक्खे कि उसे ऐसा ओजस्वी सतर्क और समाजहितचिन्तक बनने के लिए विवश कर दे जिसके उद्दीप्त प्रभाव से वह नेतातन्त्र के पंजे में फंस ही न सके और राज कोष के अपव्यय को रोक सके और उसे केवल जनकल्याण में व्यय होने के लिए सुरक्षित कर दे। आदर्श राज्य संस्था वही है जिसकी योजनाएँ प्रजा को उसके भूमि, धन धान्यादि पाते रहने के मूलाधिकार से वञ्चित कर देने वाली नहीं हो। उसे लम्बी-चौडी योजनाओं के नाम पर कर भार से आक्रान्त न कर डाले। राष्ट्रोद्धारक योजनाएँ राजकीय व्ययों मे से बचत करके चलाई जानी चाहिए। राजग्राह्य भाग देकर बचे प्रजा के टुकड़ों के भरोसे पर लम्बी-चौडी योजनाएँ छेड़ बैठना प्रजा का उत्पीड़न है।

चाणक्य की राजनीतिः- प्रजा में बल, चेतना, सतर्कता, अधिकार- तत्परता पैदा करना, प्रजाशक्ति को प्रबल तथा उसे राजशक्ति का शासक बना कर रखना ही चाणक्य की राजनीति है। यही राजनीति का अभ्रान्त आदर्श भी है। यदि समाज राजनीति के इस अभ्रान्त आदर्श को अपना ले तो निश्चय ही पृथ्वी पर समाज में ही स्वर्ग उतर आए। शान्ति प्रियता मनुष्य का स्वभाव है अतः प्रजाशक्ति का स्वभाव से दानव दलन कारिणी होना स्वतः सिद्ध है।

यदि किसी देश की राजशक्ति कर्तव्य परायण हो वह प्रजा के दानव दलनी स्वभाव के सदुपयोग से देश में शान्ति रक्षा कर सकती है। प्रजा को सुशिक्षित करके ही समाज में शान्ति और न्याय सुरक्षित रह सकता है। आचार्य चाणक्य का साहित्य समाज में शान्ति और न्याय की रक्षा सिखाने वाली शिक्षा का ज्ञान भण्डार है। राजनैतिक शिक्षा का यह उत्तरदायित्व है कि वह मानव समाज को राज्य-संस्थापन, राज्य संचालन तथा राष्ट्रसंरक्षण नामक तीनों ही काम सिखाए। अचानक राज्य पा लेने या हथिया लेने से कुछ बात नहीं बनती। वस्तुतः बात तो राज्य संचालन-संरक्षण तथा संवर्धन से बनती है।

दुर्भाग्य से भारत ने चाणक्य के इस ज्ञान भण्डार की उपेक्षा कर स्वदेशी और विदेशी दोनों प्रकार के शत्रुओं का सामना किया और उनकी आसुरी वृत्तियाँ अपना लीं। शिक्षा में से नैतिकता का बहिष्कार कर दिया गया और सरकारी कार्यालयों के लिए क्लर्क और सिद्धान्तहीन, पेट पूजा सिखाने वाली वृत्ति-रोजी रोटी कमाने वाले क्लर्क पैदा कर दिए। उक्त दो प्रकार के लोग पैदा करना ही शिक्षा का आसुरीपन है। नैतिकताहीन शिक्षा ही अर्थकरी-टका कमाने वाली विद्या का मूल है। आज भारतवासी बाह्य और आभ्यान्तरिक शत्रुओं का शिकार इसी अर्थकरी विद्या के कारण बना है। अर्थ का दास सम्मान या आत्म गौरव नही चाहता। वह तो केवल अर्थ गौरव चाहता है। अर्थकरी विद्या देश में अनीति का प्रसार करती है और स्वाभिमान हीन मनुष्य पैदा करती है।

''श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो दर्पयेन्मोहयेदपि''।

श्री से मनुष्य में दर्प और मोह उत्पन्न होना अनिवार्य है। श्री का जीवन में उपयोग होने पर भी उसे जीवन में सर्वोपरि स्थान नहीं दिया जा सकता। श्री को नैतिकता के बन्धन में बाँध कर रखने से ही उसे मानवोपयोगी बनाया जा सकता है। नैतिकता विहीन श्री महाविनाश का कारण बन सकती है।

भारत का समाज सुधार और राष्ट्र सुधार तभी संभव है जब राजनीति का भारतीय दृष्टिकोण अपनाया जाए और आध्यात्म और राजनीति की एकता को लेकर चलने वाली आर्य राजनीति के प्रतीक चाणक्य सूत्रों को विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाए। विद्यार्थियों को जीवन के नैतिक आधारों से सुपरिचित करा कर उसे ज्ञानालोक का दर्शन

कराना ही शिक्षा का उद्देश्य है। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित लोग आध्यात्मिकता के नाम से चौंकते हैं। उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि भारत की राजनीति नैतिकता, मनुष्यता और आध्यात्मिकता में लिपटी-चिपटी हुई है। ये सब एक रुप हैं। एक ही वस्तु के विवक्षा भेद से तीन नाम हैं। कर्तव्य पालन में जिस दृढ़ता की आवश्यकता है वही अध्यात्म है। दृढ़ता अध्यात्म की ही देन है। दृढ़ता के बिना राष्ट्र नहीं चल सकता। मानवीय यथार्थज्ञान-आध्यात्म-नैतिकता-मनुष्यता या मुक्ति का यही स्वरुप है कि मानव आठों प्रहर भोग-भोजन अन्वेषी होकर भटकने वाले उदरम्भरी पशुपक्षियों के समान न हो जाए और अपने व्यक्तिगत क्षूद्र स्वार्थों में फंसा पड़ा न रहे। मानवोचित मानसिक स्थिति में रहने के लिए समाज कल्याण को ही अपना वास्तविक कल्याण समझे।

भारत की वर्तमान स्वार्थमूलक तथा अज्ञान मूलक राजनैतिक दुर्दशा में एकमात्र चाणक्य का ज्ञान भण्डार ही भारत का पथ प्रदर्शक बनने की क्षमता रखता है। वही भारत वासियों को राजनैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मुक्ति का मार्ग दिखा सकता है। भारत की दूषित राष्ट्रीय राजनैतिक परिस्थिति-वातावरण पूर्ववर्ती कुशिक्षा के कपट जाल-माया जाल में फंसी हुई हैं जिसमें इसे ब्रिटिश लोग अपने वैदेशिक स्वार्थ से फंसा गए हैं। उसी के कारण आज के भारतवासी के सिर पर राष्ट्रीय भावना-राष्ट्र तथा मनु के आदर्शों की उपेक्षा करने वाली स्वार्थ चिन्तामूलक हो गई है। भारत को राजनैतिक क्षेत्र में भ्रम के भंवर जाल में फंसा दिया है। भारत में लोगों को अपने पीछे चलाने वाले प्रभुता लोभी नेतापन के दूषित आदर्श को तो राष्ट्रीय शिक्षा का ध्येय बना दिया गया है तथा अर्थकरी विद्या को समस्त समाज का ध्येय बना दिया गया है, इससे देश में सांस्कृतिक ध्वंस मच गया है। परिणाम स्वरुप, नैतिकता कान पकडकर समाज से बहिष्कृत कर दी गई है।

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

छः अंगो सहित वेदों का अध्ययन तथा मर्मज्ञान प्राप्त करना विद्या प्रेमी मानव का निष्कारण धर्म है। महर्षि पतंजलि की शिक्षा का यह निष्काम पवित्र आदर्श, जिसके बल से भारत सदा से महापुरुषों की जन्मभूमि था, सर्वथा लुप्त हो गया है। भारत की वर्तमान तथा विगत पीढ़ियों की तुलना करके इस सत्य को जाना-समझा देखा जा सकता है।

आज कल भारत की मानसिक स्थिति हमारे राष्ट्र में राष्ट्रीयता की म्रियमाण और असामाजिकता तथा नीति-भ्रष्टता की उदीयमान स्थिति है। भारत को इस स्थिति से शीघ्र उबारने की आवश्यकता है। प्रभुता लोभी नेतापन की मदिरा ने भारत को नशे में चूर बना डाला है। देश से इस प्रभुता लोभी मदिरा का बहिष्कार करने का एकमात्र उपाय विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में चाणक्य की राजनैतिक चिन्तन धारा को समाविष्ट करना ही है। यदि भारत को

सत्य अनुगामी, स्वतन्त्र विचारक, स्वतन्त्रता प्रेमी वीरों की जननी होने का गौरव देना है तो उसका एकमात्र उपाय देश को राष्ट्र सुधारक शिरोमणि, राजनैतिक धन्वन्तरि चाणक्य की विचार धारा से भर देना होगा। आज के भारतीय युवकों को भारतीय राज–धर्म के प्रकाण्ड पण्डित चाणक्य की सुपरिमार्जित विचार धारा से परिचित कराना होगा।

यह जगत्प्रसिद्ध तथ्य है कि कोई भी संस्था समालोचकों के बिना निर्दोष रुप में काम नहीं कर सकती। सच्ची आलोचनाओं से लाभ उठाने वाले लोग कटु हितवादी के गुण ग्राही और कृतज्ञ हो जाते हैं। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र (1.7) में कहा है–

मर्यादां स्थापयेत् आचार्यानमात्यान् वा यः।
एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुःप्रमाद्यन्तमभितुदेयुः॥

राजा लोग कुछ ऐसे विद्यावृद्ध, वयोवृद्ध, अनुभववृद्ध, तपोवृद्ध, सत्करणीय विद्वानों को अपने पास रखे जो प्रमादी व्यक्तियों को प्रमाद न करने दे साथ ही प्रमाद करने से अधिकार पूर्वक टोकें और रोकें।

राष्ट्र कल्याण इसी में होता है कि समाज का हित कर सकने वाली दैवी शक्तियों को राज्याधिकार मिले। परन्तु समाज के दुर्भाग्य से सदा ऐसा नही होता। जनमत की अनुद्बुद्धता से बहुधा व्यावहारिक रुप में समाज के शत्रु राज्याधिकार पा जाते हैं और लोकमत की मोहान्धता का अनुचित लाभ उठाकर समाज की प्राण शक्ति का शोषण करने लगते हैं। समाज और राजशक्ति दोनों के मोहान्ध बन जाने से राज्य संस्था के निर्माता, मोहनिद्रा से अभिभूत समाज के कानों को हितोपदेश सुनाना, विचार धर्मी सेवकों का ऐसा अनिवार्य कर्तव्य–धर्म बन कर उनके सामने आ खड़ा होता है जिससे वे अपने को रोक ही नही सकते। तब उन्हें समाज तथा राज्यशक्ति दोनों के मोहनिद्रा अभिभूत जड़मस्तिष्कों पर तीव्र ज्ञानाकुंश के उद्बोधक प्रहार करने पड़ते हैं। ऐसे विकट समयों पर विष्णुशर्मा के शब्दों में

जनपदाहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः

राजरश्मि पकडे रहनें वाले लोग नहीं चाहते कि जनता स्वाधिकार रक्षा से उद्बुद्ध हो या और कोई उन्हें उद्बुद्ध करे। वृहदारण्यक में भी इसी प्रकार का वर्णन है–

यह देवताओं को प्रिय प्रतीत नहीं होता कि मनुष्यों को आत्मबोध हो जाय। देवताओं की जीविका (इन्द्रियों की विषयकण्डूतिपूर्ति स्पृहा) अनुद्बुद्ध लोगों के ही सहारे से चलती है, इसी प्रकार सुषुप्त लोकमत स्वार्थी राज्यधिकारियों के स्वार्थ का क्षेत्र हो ही जाता है। लोकमत के जाग उठने पर तो राज्यधिकारियों की मिथ्या प्रतिष्ठा का धूल में मिला दिया जाना अनिवार्य हो जाता है। इसलिए जन जागरण की सेवा को अपनाने वालों को आसुरी राजशक्ति का रोषपात्र बन ही जाना पड़ता है। वह उनके भाषण तथा लेखन के प्रचार में बाधा उपस्थित

करने में अपना हित समझने की भूल कर बैठता है। संसार में राजशक्ति का दुरुपयोग करने वाले समाज-शत्रु सदा से होते आए हैं। आचार्य चाणक्य ने ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व अपनी ज्वालामयी भाषा में तत्कालीन भारत वासियों की मनोदशा को भारत की शतधा विच्छिन्ना राजशक्ति का दुरुपयोग करने वाले समाज के शत्रुओं के विषैले प्रभाव से मुक्त करने का बीड़ा उठाया था और इस देश सेवा की यज्ञ पूर्ति के लिए उसमें देश द्रोहियों की चुन चुनकर आहूति दी थी।

उपरि करवालधाराकाराः क्रूराः भुजगमपुङ्गवाः।
अन्तः साक्षाद् द्राक्षादीक्षा गुरवो जयन्ति केऽपि जनाः॥

कुछ उदार कर्मी लोग ऊपर से देखने में तो विषधर सर्प तथा असिधारा की लपलपाती कठोर आकृति के समान महाक्रूर बन कर रहते हैं परन्तु इन लोगों की अन्तरात्मा लोकहित के माधुर्य में इतनी पगी-डूबी रहती है मानो इन्होंने द्राक्षाओं से माधुर्य की दीक्षा ले रखी हो। कर्म के तो कठोर परन्तु हृदय मधुर विराट कर्मी लोग संसार में अति न्यून होते हैं। आचार्य चाणक्य इसी प्रकार के लोगों में से थे।

आज हमारे राष्ट्र को राजनीति विशारद-सुचतुर वैद्य की गम्भीर आवश्यकता है। यह इसलिए की आज भारतवासी आसुरी प्रभाव में आकर, अहित को हित समझ कर, मोहनिद्रा में डूबा-सोया पड़ा है। इस विकराल स्थिति में यह हमारा सौभाग्य है कि चाणक्य की दुग्धकुम्भी ज्वालामयी भाषा में लिपिबद्ध राजचरित्र तथा राष्ट्रचरित्र का निर्माता **''चाणक्यसूत्र''** उनका प्रतिनिधित्व करने के लिए हमें उपलब्ध है। इन सूत्रों का प्रत्येक शब्द सुन्दर मणिमुक्ता गर्भित सुगम्भीर भावसागर को धारण किए हुए है। चाणक्य के दूरदर्शी उदार मन में राज्य व्यवस्था तथा राष्ट्र-चरित्र निर्माण के सम्बन्ध में जितनी सुधारक योजनाएँ थीं वे सब संक्षेप में इनमें सन्निहित हैं।

अन्त में, हम संक्षेप में अपना विचार इस श्लोक के माध्यम से व्यक्त करना चाहेंगे-

पुरुषाः सुलभाः राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभाः॥

राजन्! मुख पर सदा मीठी बात बनाने वाले पुरुष तो सर्वत्र मिल जाते हैं परन्तु अप्रिय पथ्य को कहने और सुनने वाले दोनों ही दुर्लभ होते हैं।

नेतृत्व क्षमता एवं कर्मचारियों की नियुक्ति की निपुणता

किसी भी क्षेत्र में सफलता पाने के लिए नेतृत्व क्षमता एक अनिवार्य गुण है। नेतृत्व करने की क्षमता वाला व्यक्ति हर क्षेत्र में सफल होता है। संस्थाओं के प्रबन्धन में अथवा राज्य प्रबन्धन में इस क्षमता का अतीव महत्व है। आचार्य चाणक्य ने इस नेतृत्व की क्षमता को विकसित करने के लिए कई सूत्र रुप में गुर दिए हैं। इन सूत्रों पर यदि अमल किया जाए तो सफलता सुनिश्चित है। इन सूत्र रुप सिद्धान्तों पर अमल करके ही चाणक्य नन्दवंश के शासकों का नाश कर चन्द्रगुप्त जैसे कुशल शासक को सिंहासनारुढ़ कर सके।

नियुक्ति घूस-रिश्वत से नहीं- जो मनुष्य अध्यक्षता, मन्त्रित्व-रहस्य, विचारशक्ति, निरीक्षण, न्याय, दौत्यकर्म, श्रम, वाणिज्य, कोष आदि जिस भी कर्म में कुशल हो, उसे उसी कर्म में नियुक्त किया जाना चाहिए। कार्य कुशलता ही उसकी योग्यता की परिचायक होती है। अतः उस की नियुक्ति सिफारिश अथवा उत्कोच-घूस-रिश्वत से नहीं की जानी चाहिए।

कार्य कुशलता ही योग्यता की परिचायक- सिफारिशों या उत्कोच से नियुक्ति से अकुशल व्यक्ति द्वारा निम्न स्तर का कार्य तथा कुविचारों की मनोवृत्ति का वातावरण संस्था-कार्यक्षेत्र में होगा। कार्य कुशलता ही योग्यता का परिचायक होती है। सुचारु कार्य व्यवस्था संचालन ही प्राथमिक आवश्यकता है। निजी-व्यक्तिगत स्वार्थ, कार्य संचालन, सुव्यवस्था में बाधक है। राजकाज में व्यक्तिगत स्वार्थों को महत्त्व देने वाले, राज्य को सुसम्पन्न न बनाकर अपना घर भरना शुरु कर देते हैं।

बाह्य स्तर पर संस्था को सतर्क-सावधान होना होता है (Competition) प्रतिस्पर्धा-प्रतियोगिता और हथियाना (Take over) जैसे खतरों से बचने के लिए। इसके लिए संस्था को बहुत शक्तिशाली कुशल कार्यव्यवस्था की आवश्यकता है। अधिकांश कम्पनियों में आजकल मार्केट कुशलता एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य है। इसके लिए एक विशेष तकनीक होती है बहुमूल्य सूचनाओं के प्राप्त करने के लिए।

अधिक सूचनाएँ-जानकारियाँ एकत्रित करें:- कार्य प्रबन्धक प्रमुख जानकारियाँ जुटाने वाले तरीकों को एक विशेष स्थान पर संग्रहीत करे। जहाँ से उसे जो जानकारी जब चाहिए

शीघ्रता से तुरन्त मिल जाए। इसके लिए वह किसी तकनीक का सहारा भी ले सकता है। लेकिन याद रहे कि जानकारी का अर्थ केवल ज्ञान न हो।

प्राप्त जानकारी को सावधानी से पढ़ें:- संस्था के प्रमुख के लिए उस जानकारी को सावधानी से पढ़ना और विवेचना-विश्लेषण करना आवश्यक है। उसे प्रति दिन एक घण्टा पुस्तकाध्ययन से कुछ नया सीखना जरुरी है। उसे विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों से प्रति सप्ताह मिलना भी जरुरी है।

परीक्षण (Experiments):- संस्था प्रमुख ने जो कुछ भी जानकारी प्राप्त की है उसे संस्था में लागु करके अजमाना चाहिए। नई पद्धति को अपना कर देखना चाहिए और नई तकनीक को लागु करना चाहिए। कुछ विशेष कदम उठाने चाहिए, खतरों-जोखिम को आँकना-हिसाब लगाना चाहिए। बजट का कुछ हिस्सा खोज-अनुसंधान एवं विकास में भी लगाना चाहिए।

प्रशिक्षण (Training)- उसे अपने (Staff) एवं दल के कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करना चाहिए नए ज्ञान-जानकारियों के विषय में। किसी भी मुखिया को भयभीत नहीं होना चाहिए कि वह अपना पद और अधिकार खो देगा यदि उसके अधीनस्थ (Subordinates) अधिक समुन्नत हो जायेगें। वह तो उसमें असुरक्षा की भावना एवं अहं का भाव जाग्रत करेगा। अपने अधिनस्थ (subordinates) को जिम्मेदारियाँ सौंपने और उन पर विश्वास करना सीखें।, आजकल हमें अधिकाधिक ज्ञानपूर्ण प्रमुख अधिकारियों की आवश्यकता है।

ज्ञान और हुनर (Knowledge and skill)- बिजनेस के लिए एकीकृत ज्ञान भले ही आवश्यक है। कोई भी specialisation भले ही स्थायी वृद्धि के लिए जरुरी है लेकिन बिजनेस प्रमुख को अपनी विशेषज्ञता के दायरे से निकलने के लिए भी यत्न करना चाहिए।

निर्णय (Decision making)- मुखिया बनने के लिए तुम्हें स्वयं को मुखिया मानना-समझना होगा। बैठकर जरा विचार करो कि मुखिया में क्या गुण-योग्यता होनी चाहिए और फिर उन पर अमल करना आरम्भ कर देना चाहिए। अच्छी निर्णयात्मक शक्ति एक प्रमुख गुण है। चाणक्य का कथन है-

''उसे आवश्यक काम-बात को तुरन्त सुनना चहिए और इसे टालना नहीं चाहिए। टाले-स्थागित किये गये काम को व्यवस्थित करना आवश्यक है, नही तो पूर्ण करना असम्भव है'' 1.19.30

अनेक कार्य ऐसे है जो संस्था प्रमुख की अनुमति के बिना आगे चल नहीं सकते। अत: चाणक्य का सुझाव है कि यदि कोई सहायक किसी आवश्यक तुरन्त किए जाने वाले कार्य के लिए उसके पास आता है उसे तुरन्त ही देखना चहिए। यदि वह निर्णय को टाल देता है तो दबाव-बोझ उस पर ही पड़ेगा और परिस्थिति बेकाबू हो जायेगी।

प्रमुख को तेजी–शीघ्रता से सोचना चाहिए, शीघ्र निर्णय लेने वाला और तेजी–शीघ्रता से उस पर अमल करने वाला होना चाहिए, उसके पास समय नष्ट करने को नहीं होता। विश्लेषण करना अच्छा होता है लेकिन आगे बढ़ना अधिक आवश्यक है। कोई कैसे अच्छा निर्णय करने–लेने वाला होता है यह जानना अति आवश्यक है।

एक इन्टरव्यु में एक प्रमुख कार्यकर्ता अफसर से उसकी सफलता का राज पूछा गया। ''यह उचित समय पर निर्णय ले लेने से होता है'' वह बोला तुम कैसे जानते हो कि तुम जो निर्णय लोगे वे ठीक–उचित ही होगें। उससे पूछा गया तो प्रमुख कार्यकर्ता ने कहा कि 'गलत निर्णय लेकर ही''।

हर बालक चलना–दौड़ना सीखने से पहले अनेक बार गिरता हैं। गल्तियाँ करने से डरो नहीं। लेकिन गल्तियों से सीखना जरुरी है। यह आवश्यक है कि हमेशा गल्तियाँ नही करते रहें।

एक समय सारिणी बना लो– जब तुम किसी काम की योजना बना रहे हो तो फर्क–फर्क सम्भावनाओं के विषय में सोचने का अवसर दो। लेकिन एक समय–सारिणी–तालिका होनी चाहिए जिसके अनुसार वह पूरा हो जाना चाहिए। तभी नियम–सिद्धान्त व्यावहारिक रुप धारण करेगा।

दूसरों को भी शीघ्र निर्णय लेने के लिए प्रेरित–प्रोत्साहित करें– जब एक ही व्यक्ति को निर्णय लेना होता है तो काम रुक जाता है। छोटे निर्णयों को दूसरों को सौंपना भी सीखें। आपकी संस्था स्वयं प्रबन्धन वाली संस्था होनी चाहिए। दूसरो को भी प्रशिक्षित करो और उन्हें जिम्मेदार बनाओ। तुम्हें केवल सबसे ऊपर के प्रमुख विषयों को देखना है। खेल, खेलने वालों से अधिक महत्वपूर्ण होता है। संस्था, कर्मचारियों से, अधिक महत्वपूर्ण होती है। उद्देश्य–लक्ष्य अधिक महत्वपूर्ण है, तेरे–मेरे की अपेक्षा।

सतर्कता (Vigilance-Total Alertness)– आधुनिक भारत के निर्माण में सरदार पटेल की अहम भूमिका रही है जब उन्होंने राजाओं से उनके अलग–अलग राज्यों को छीनकर एक केन्द्रीय राजसत्ता में मिला दिया था। यही कार्य तृतीय शती में कौटिल्य के द्वारा किया गया था कि समस्त राज्यों को एक प्रमुख शासनाध्यक्ष के अन्तर्गत रख दिया था जिसे उनका शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य चला रहा था।

कौटिल्य ही सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने 'सतर्कता' को संस्था प्रबन्धन में सर्वप्रमुख स्थान दिया। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में सतर्कता (Vigilance) का तात्पर्य बताया है 'सावधानी पूर्वक

चौकसी करना भविष्य में होने वाले खतरे या कठिनाईयों से'। व्यावसायिक क्षेत्र में इसे दो दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। व्यक्ति को स्वयं को बाह्य खतरों–धमकियों (Threats) से बचाना है साथ ही साथ आन्तरिक कुप्रबन्धन की दुर्व्यवस्था से भी।

बाह्य स्तर पर संस्था को सतर्क–सावधान होना होता है (Competition) प्रतिस्पर्धा–प्रतियोगिता और हथियाना (Take over) जैसे खतरों से बचने के लिए। इसके लिए संस्था को बहुत शक्तिशाली कुशल कार्यव्यवस्था की आवश्यकता है। अधिकांश कम्पनियों में आजकल मार्केट कुशलता एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य है। इसके लिए एक विशेष तकनीक होती है बहुमूल्य सूचनाओं के प्राप्त करने के लिए।

'आन्तरिक' रुप में सतर्कता अधिक महत्वपूर्ण व कठिन है। संस्था में होने वाली समस्याओं का प्रबन्धन करना अधिक कठिन है जबकि हम अपने ही लोगों से व्यवहार कर रहे होते हैं। सेनाध्यक्ष युद्ध करके शत्रु सेना को हटा सकता है बोर्डर से लेकिन अपने पुत्र के विद्रोह को काबू करने में समर्थ नही होता (जैसे कि अकबर और शाहजहाँ)।

लेखा–जोखा (Accounts)– ग्राहकों से सम्बन्धित सूचनाएँ (Customer data bases) और प्रबन्धन की (Strategies) नीति विषयक सूचनाएँ अति अनिवार्य और कठिन होती हैं संस्था के लिए। संस्था विषयक इस प्रकार की सभी जानकारियाँ बाहर किसी प्रकार से जाहिर न हों यह परमावश्यक है।

इसे कैसे कोई करता है इसके लिए 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' हमारा मार्ग दर्शन करता है। इन समस्याओं से जूझने के लिए कौटिल्य का कथन है–

लीडर मुखिया को, निरन्तर उनके कामों की जाँच–मुआइना करते रहना चाहिए क्यों कि मनुष्य अपने मन से बहुत अस्थिर (Inconstant) होते हैं। 1–2–9–3

मुखिया का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वह निरन्तर अपनी संस्था के सभी तथ्यों की जानकारियों की जाँच करे। मुखिया को बहुत जागरुक–सावधान–सतर्क रहना होता है अपने कर्मचारियों के क्रिया कलापों के विषय में।

उसे अपने कर्मचारियों के लिए एक लक्ष्य और चरम सीमा निर्धारित करनी होती है अपने काम के विषय में। दूसरे, उसे निरन्तर उनके काम की (Quality) गुणवत्ता पर निगाह रखनी चाहिए।

ऐसा क्यों? क्योंकि मनुष्य का मन बहुत अस्थिर हैं। कर्मचारियों की सुस्ती की प्रवृत्ति–आदत होती है यदि उनके लिए समय की चरम सीमा निर्धारित न की जाए तो, और

दण्ड का उन्हें भय न हो तो भी सम्भवत: गड़बड़-उल्टफेर करने की आदत हो। आकीओ मोरिटा, जो सोनी कार्पोरेशन के संस्थापक हैं- का कथन है कि 'मुझे सिर्फ मनुष्यों' से नहीं अपितु उनके मन से व्यवहार करना होता है। अत: कर्मचारियों के मन के स्तर को भी समझना होता है गड़बड (Corruption) को रोकने के लिए तथा प्रत्येक से उत्पादकता की परख के लिए। अत: सतर्कता पूरी जागरुकता है आन्तरिक व बाह्य स्तर पर।

कर्मचारियों की नियुक्ति का आधार-

यो यस्मिन् कर्मणि कुशलस्तं तस्मिन्नेव योजयेत् (117)

चटाई बुनने वाला रेशम के तार नहीं बुन सकता। इसी प्रकार प्रशासनिक सेवा में आई. ए. एस. अधिकारियों की नियुक्ति में उन्हें हरफनमौला मानकर उन्हें किसी भी विभाग में नियुक्त न कर दिया जाए। अत: जो जिस कार्य में कुशल हो, उसे उसी कार्य में ही नियुक्त किया जाए- **स्थानेष्वेव नियोज्यानि भृत्याश्चाभरणानि च।**

न हि चूड़ामणि प्राज्ञैः पादादौ प्रतिवध्यते॥

उपायज्ञता की महिमा- दु:साध्यमपि सुसाध्यं करोति उपायज्ञ: (118)

उपायज्ञ व्यक्ति कर्म के जरुरी साधनों को पहचानने वाला होता है और वह कठिन कार्य को भी सुकर बना लेता है। शासन सम्भालने वाले सुयोग्य शासक-प्रबन्धक, दक्ष लोगों को ही कार्य भार सौंपते हैं।

अज्ञानी के द्वारा आकस्मिक कार्य सफलता में उसे बहुत महत्व नहीं दे देना चाहिए-

अज्ञानिना कृतमपि न बहुमन्तव्यम्-119

निर्गुण लोगों के भरोसे सफलता के सारे सपने नहीं देखें क्योंकि अज्ञानियों के कामों में अयश, हानि-अर्थनाश एवं अन्तत: दु:ख प्राप्ति होती है।

विवेकपूर्ण कर्म ही मानव की विशेषता है। अविवेकी सेवक की स्वेच्छाचारिता की प्रवृत्ति से संस्था प्रशासन दुष्कर हो जाता है। शिक्षा से उपजे ज्ञान और विवेक से सफलता होती है सिद्धान्त हीनता से नहीं-

यादृच्छिकत्वात् कृमिरपि रुपान्तराणि करोति-120

जैसे घुन का कीड़ा अपनी इच्छानुसार पदार्थ का जैसा ही रुप धारण करके अपनी निर्माण कौशलता जाहिर नहीं कर सकता इसी प्रकार मनमर्जी से अविवेक एवं अविचार शीलता से कभी काम बन भी जाए तो उसे कार्यनिपुणता का श्रेय नहीं दिया जाना चाहिए।

सिद्धस्यैव कार्यस्य प्रकाशनं कर्तव्यम्-121

कार्य के सफल हो चुकने के बाद ही लोगों की जानकारी में लाएँ। कार्य के पूरा होने पूर्व ही उसे जग-जाहिर कर देने से उसमें विघ्न एवं विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। शत्रु को उसे बिगाड़ने का पूरा अवसर मिल जाता है। कार्य में रुकावट की संभावना से कार्य के पूरा होने से पूर्व उसका ढ़िढ़ोरा पीटना उचित नही है। क्योंकि कभी-कभी भवितव्यता की प्रतिकूलता से भी या मानव त्रुटि से कार्य अधूरे रह जाते हैं।

ज्ञानवतामपि दैवमानुषदोषात् कार्याणि दुष्यन्ति-122

भवितव्यता की प्रतिकूलता होने पर, काम पूरा होने से पहले उसका ढ़िढ़ोरा पीटने से, लोगों की दखलन्दाजी से, मीन-मेख निकालने से कार्य अधूरा-अपूर्ण-दोषपूर्ण हो जाता है। इसलिए काम पूरा होने से पहले किसी को जानकारी न दो। भूकम्प, महामारी, बाढ़, सूखा आदि दैवदोष हैं। हिंसा, द्वेष, विरोधियों के षड्यन्त्र, अपनी भूल, आदि काम बिगड़ने के मानुषी दोष हैं। इनसे भी मनुष्यों के काम बिगड़ जाते हैं अथवा बिगड़ने की सम्भावना रहती है। इसलिए काम पूरा होने से पहले इसे गुप्त ही रक्खें।

लीडरशिप एक प्रवृति की बजाए एक जिम्मेदारी है। एक योग्य लीडर दूसरे के हुनर निखार कर उन्हें मजबूत बनाता है। वह लोगो को लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है।

बेहतर कम्युनिकेशन की योग्यता- एक लीडर में अपनी बात को असरदार ढ़ंग से दूसरों तक पहुँचाने का हुनर होना चाहिए। इससे कामकाजी माहौल में ऊर्जा भर जाती है और लोग उत्साहपूर्वक काम में जुटते हैं और रचनात्मकता के स्तर में सुधार होने लगता है।

टीम में जुनून पैदा करना- दूरदर्शी लीडर एक जुनूनी टीम तैयार करना-बनाना चाहता है जो जोशोखरोश से काम करती है और आपसी एकता रखती है और मुखिया के लिए सम्मान रखती है। मुखिया अकसर अपने मृदुस्वभाव के कारण अपने आश्रितों से भी अपमानित होता है तो भी उसे अपना स्वभाव मृदु ही बनाए रखना होता है-

आश्रितैरप्यवमनसते मृदु स्वभावः-142

सामान्यतः मूर्ख लोग इसको स्वामी की दुर्बलता मानते हुए स्वामी की नम्रता का अनुचित लाभ उठाने का यत्न करते है। अतः मुखिया को ऐसे दुष्टों को दबा कर ही रखना चाहिए। लेकिन **'तीक्ष्णदण्डः सर्वैरुद्वेजनीयो भवति'- 143** अर्थात् कठोर दण्ड कदापि नहीं दिया जाना चाहिए, नहीं तो संस्था प्रमुख सब के द्वारा तिरस्कृत होता है और घृणा का पात्र बन जाता है। ऊपरी तौर पर पूर्व कथन से विरोधाभास सा प्रतीत होता है तो भी गल्ती किए जाने पर भी उसे तीक्ष्ण दण्ड नहीं देना चाहिए अन्यथा संस्था में काम करने वालों में ही आपके प्रति विद्रोह की भावना पनपने लगती है।

सुपूजितोऽपि दुर्जनः पीड़यत्येव-205

नेतृत्व करने वाले को व्यक्ति की सही पहचान होनी चाहिए तभी वह कर्मचारियों में अनुशासन रख पायेगा। कर्मचारियों के गुण–स्वभाव–कार्यक्षमता सभी की पहचान व उन पर नियन्त्रण आवश्यक है।

निरीक्षणकार्य– संस्था की साख बनाए रखने के लिए कर्मचारियों के प्रति जिम्मेदारी के साथ–साथ उत्पाद्य पदार्थ (Product) में कोई कमी न आने पाए। इसके लिए परमावश्यक है कि उत्पाद्य पदार्थ की जाँच–पड़ताल–निरीक्षण कार्य स्वयं करे, विशेषत: बिगड़े काम को संभालने के लिए–

स्वयमेवावस्कन्नं कार्यं निरीक्षेत्–228

उत्पाद्य पदार्थ की निर्दोषता की जाँच संस्था–प्रमुख के द्वारा ही की जानी चाहिए। संस्था प्रमुख का निरीक्षण कार्य बहुत कठिन है, तनिक भी चूक से धन और (good will) साख मान–प्रतिष्ठा की हानि सम्भव है। विश्वविख्यात कम्पनियाँ इन्हीं सिद्धान्तों का ध्यान रखने से ही अपना वर्चस्व कायम किए हुए हैं।

राजा और राज्य संचालन

विज्ञानेन आत्मानं संपादयेत् 8

राज्याभिलाषी, विज्ञान, व्यवहार कुशलता या कर्त्तव्याकर्तव्य का परिचय प्राप्त करके अर्थात् वास्तविक सत्य को व्यवहार में लाकर या अपने व्यवहार को परमार्थ का रुप देकर अपने आपको योग्य शासक बनाए।

राज्याभिलाषी का आदर्श–चतुर शासक होना परम आवश्यक है। अपने को सर्वविध ज्ञान से सम्पन्न करना धन सम्पन्नता से भी अधिक महत्वपूर्ण है। राज्य तो अयोग्य शासकों को भी अनायास भी मिल जाता है किन्तु क्षेम–कुशलता पूर्वक संचालन करना उसके स्वयं के गुणों पर निर्भर करता है। इस लिए प्रशासन के क्षेत्र में प्रवेश से पूर्व योग्यता एवं प्रशिक्षण अनिवार्य–आवश्यक है। राज्य प्रशासन के विषय में प्रमाद से राज्यसत्ता अस्थिर हो सकती है।

राजकीय प्रशासन में जाने वाले का जितेन्द्रिय होना परमावश्यक है इससे प्रजा के सम्मुख एक अनुकरणीय आदर्श उदाहरण प्रस्तुत होगा। राजचरित्र का अनुकरण कर प्रजा भी धर्म मार्ग का अनुसरण करने वाली होगी और दुश्चरित्र के दोष से देश स्वयमेव बच जायेगा। राज्याधिकारी के धर्मपालन करने से प्रजावर्ग स्वयमेव अनुशासित हो जाता है। राज्याधिकारी का संकल्प होना चाहिए– 'आत्मानमात्मना रक्षन् चरिष्यामि विशाम्पते' मैं अपने विज्ञानी–विवेकी मन से अपने पर नियन्त्रण रखता हुआ राजकाज करुँगा।

सम्पादितात्मा जितात्मा भवति– 9

शासकोचित सत्य व्यवहार सीख लेने वाला ही जितेन्द्रिय हो सकता है। मनुष्य की कर्तव्य परायणता ही उसके जितेन्द्रिय होने का सूचक होता है। मनुष्य के अन्तरात्मा की सन्तुष्टि–प्रसन्नता–निष्कामता ही उसके मन की निर्मलता–जितात्मकता है। नीतिनिपुण व विज्ञानविशारद ही जितात्मा होते हैं। सत्यता–वास्तविकता ही व्यवहार का प्रमुख आधार है व्यवहार निर्वाह तभी हो पाता है जब उसमें छल–छद्म न हो, वस्तुस्थिति वास्तविक हो।

सत्यदर्शन के बिना पारदर्शिता नहीं हो सकती क्योंकि सत्यदर्शन ही राज्याधिकारी को निर्णयात्मक बुद्धि देता है।

जितात्मा का अर्थ सुपरिष्कृत मन-बुद्धि और आचरण वाला होता है। अपनी क्षुद्रप्रवृत्तियों को, विष को कण्ठ में दबाने वाले महादेव की भाँति, अपने मन में ही दबा कर बैठ जाता है कभी उभरने-बाहर आने नहीं देता। अपने स्वभाव व आचरण से ही प्रजा का पूज्य बन जाता है, तब राजा का आदर्श चरित्र ही प्रजा का मार्गदर्शक बनता है। उत्तरदायित्व विहीन कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक विहीन शासक धन लोलुप हो मदान्ध हो स्वयं ही सत्ताच्युत हो जाता है तथा बैरी राजाओं को अपनी राजसत्ता पर अधिकार करने का अवसर-निमन्त्रण दे बैठता है। राजनीति के आचार्य वृहस्पति का कथन था ''आत्मावान् राजा'' प्रजा पर शासन करने से पहले राजा अपने ऊपर शासन करना सीखे तदनन्तर दुष्टनिग्रह व शिष्टपालन करना सम्भव होगा। जब राजा स्वयं पर नियन्त्रण अनुशासन नहीं रख सकता तब विशाल राष्ट्र को कैसे वश में रख पायेगा।

एकस्यैक हि योऽशक्तो मनसः सन्निवर्हणे।
महीं सागरपर्यन्तां स कथं ह्यवजेष्यति॥

जो राजा अपनी दुष्ट अभिलाषाओं पर शासन कर पायेगा तभी वह दुष्टों को शासित-नियन्त्रित कर पायेगा। राजा तो राज्य रुपी तपोवन का कुलपति है। व्यक्तिगत क्षूद्र स्वार्थों से राज्य का सर्वनाश करने वाला तो सबसे बड़ा देशद्रोही है। अपना सुधार किए बिना दुष्टों को सुधारने का काम तो मानो सर्प विद्या को न जानने वाला सर्पों का खेल खेलने वाले अनिष्ट कर्ता जैसा है।

जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्येत-10

आचार्य वृहस्पति ने कहा है ''गुणवतो राज्यम्''! राज्य में गुणी जनों का ही अधिकार होना चाहिए। जितेन्द्रियता ही राज्याधिकार की योग्यता का आधार है। राज्य प्रबन्धन केवल वेतनार्थी, उत्कोचजीवी, निर्गुण, उदरम्भरि, भोग परायण लोगों का काम नही। राज्य तो सद्गुणी लोगों का तपोवन है। अनायास ही अवसरवश निर्गुणियों को राज्यशासनाधिकार मिल जाए तो प्रजा में रोष-असन्तोष फैल जाता है। प्रशासकीय गुणों से रहित लोगों को राज्याधिकार प्राप्त होना तो जैसे उन्हें लूट का ठेका-अवसर मिल जाना होता है। राजशक्ति का अयोग्य हाथों में आ जाना तो जैसे मानो राष्ट्र का दुर्भाग्य ही है।

जितात्मा-नीतिमान् समस्त सम्पत्तियों से सम्पन्न हो जाता है। अपने पर विजय पा चुकने के बाद जितेन्द्रिय लोग जिस काम में हाथ डालते हैं उसे पूरा करके स्वयं को सन्तुष्ट-सम्पन्न मानते-समझते हैं। ऐश्वर्य एवं सिद्धियों से सम्पन्न जितेन्द्रिय लोग सामाजिक कार्यों को अपनी निर्लिप्त मानसिकता-भावना से, अपने पुरुषार्थ से कार्यान्वित-क्रियान्वित करते हैं। अतः सम्पत्ति-सम्पदा एवं पद प्राप्त करने से पहले आत्मविजय जरुरी है। अजितात्मा सत्कर्मों के

लिए उदासीन होते हैं और शासक का अनीतिपरायण होना ही राज्यतन्त्र के पतन का कारण होता है।

अर्थसंपत् प्रकृतिसम्पदं करोति- 11

प्रजा की सम्पन्नता एवं गुणवृद्धि के कारण ही शासन की सुव्यवस्था दोनों राजा और राज्य-शासन-सत्ता को ही सम्पन्न कर देती है। प्रजा की सन्तुष्टि, राजभक्ति-अनुरक्ति एवं सम्पन्नता ही उसे राज्य-संस्था में अनुरक्त बनाए रखती है।

राज्याधिकारियों की नीतिमत्ता, सत्यपरायणता तथा विवेकशीलता से प्रजा में नीति, सत्यनिष्ठा तथा विवेक की वृद्धि हो जाती है। प्रजा पाप-पुण्य, नीति-अनीति, न्याय-अन्याय आदि प्रत्येक व्यवहार शासक, राजा एवं अधिकारियों से सीखती है। यदि राज्याधिकारी उपरोक्त सभी गुणों से सम्पन्न होता है अर्थात् नीतिमान्, विनयी, ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न होता है तो अमात्य-राजकर्मचारी प्रजा सभी इन गुणों से सम्पन्न हो जाते हैं।

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥

प्रकृति शब्द मन्त्रियों, राजकर्मचारियों तथा देश के कर-दाता नागरिकों का वाचक है। सफल शासक-राजा वही होगा जो प्रजा को अपने औरस पुत्रवत् पालेगा। प्रजा को ही विराट परिवार रुप में मानने वाला राजा ही राज्य श्री को चिरकाल तक भोगेगा। अपने स्वार्थ से हटकर प्रजा का स्वार्थ-हित देखने-करने वाला राजा ही स्वयं की तथा राष्ट्र की सत्ता को बनाए रखेगा। मार्कण्डेय पुराण में भी यही बात कही गई है- **प्रजाः पुत्रानिवौरसान्।**

प्रकृतिसम्पदा ह्यनायकमपि राज्यं नीयते-12

प्रजाजनों के पंचायती राज या प्रजातन्त्र नीति सम्पन्न होने पर, किसी कारण वश राजा का अभाव होने पर भी राज्य सुसंचालित रहता है। देश का जनमत योग्य राजसत्ता के प्रभाव से सुशिक्षित होकर स्वयं ही, राज्य संस्था का संचालक बन जाता है। जनमत के अतिरिक्त राज्य सत्ता को जन्म देने वाली कोई और शक्ति नही है। इसलिए नीतिमान् लोकमत, राजा के शून्य पद पर अधिकार करके अनायक राज्य का कर्णधार बन कर स्वयं ही प्रजा में शान्ति का संरक्षक बन जाता है। वह शान्त वातावरण में लोक कल्याण की दृष्टि से, राजा के योग्य उत्तराधिकारी का राज्याभिषेक करके राज्य को सनायक बना लेता है। प्रबुद्ध लोकमत, राजा का अन्त हो जाने पर, राजसिंहासन को उसके अयोग्य पुत्रों या अन्य महत्वाकाँक्षी लोगों के घात-प्रतिघात की लीला भूमि नही बनने देता। देश में शक्तिशाली जनमत न होने पर ही शून्य राज्यसिंहासन पर उसके उत्तराधिकारियों को आत्मकलह करने का अवसर मिलता है। राजा

के अयोग्य उत्तराधिकारियों को इस प्रकार कलह करने देने के परिणाम स्वरुप अयोग्य लोग राज्य की बागड़ोर हथिया लेते हैं और राष्ट्र को अधः पतित कर देते हैं। इस प्रकार के दुष्ट उदाहरणों से इतिहास के पृष्ट भरे पड़े हैं।

राजनीति में अनीति परायण राज्याधिकारियों की भरमार से प्रजा के भी अधःपतन का उदाहरण आजकल देखने को मिलता है। लोभी-स्वार्थी विदेशी राजशक्ति ने यहाँ के जनमत को जानबूझकर जागने नही दिया। और भारत त्यागने के अवसर पर भारत में जो अनर्थ करके गई उसे कोई भुला नही सकता। यदि भारत का जनमत सुशिक्षित तथा राजशक्ति का स्थान ग्रहण करने की योग्यता से सम्पन्न होता तो, न तो भारतभूमि को खण्डों में बँटना पड़ता और न दोनों भागों की राज्यसत्ता पार्टीबाज स्वार्थी लोगों का अधिकार-संघर्ष होता।

सूत्र इस बात का विशेष संकेत कर रहा है कि जनमत सुशिक्षित होकर या तो स्वयं ही राज्यशक्ति बनकर रहे या राज्यशक्ति का सुदृढ़ नेतृत्व करे। यही राष्ट्र की शान्ति को सुरक्षित रखने का एक मात्र उपाय है। देश के लोकमत के आदर्श को अपना लेने पर ही राज्य व्यवस्था को अयोग्य हाथों में जाने से रोका जा सकता है तथा शक्तिशाली स्वतन्त्र राष्ट्र का निर्माण किया जा सकता है। विद्वानों का कथन है कि-

राजनं प्रथमं विन्द्यात्ततो भार्यां ततो धनम्।
राजन्यसति लोकेऽस्मिन् कुतो भार्या कुतो धनम्॥

सुखी जीवन बिताने के इच्छुक लोग सबसे पहले अपने देश में न्याय की संरक्षक राजशक्ति खड़ी करे। इसी में उनके कल्याण का रहस्य छिपा हुआ है। इससे पहले पत्नी और धन धान्य संग्रह का कोई अर्थ-महत्व नहीं है। ये तो विश्वस्त-सुपुष्ट राजशक्ति के बनने के बाद ही संग्रह करने की वस्तु है। सुविश्वस्त राजशक्ति के बिना भार्या और धन अरक्षित हो जाते हैं। राजशक्ति की निर्बलता से अपना सर्वस्व लुटवा कर नष्ट हुआ बंगाल और पंजाब वाले उदाहरणों से हमें सीख लेनी चाहिए और अपनी राजशक्ति को पवित्र और पुष्ट बनाए रखना चाहिए।

प्रकृतिकोपः सर्वकोपेभ्यो गरीयान्- 13

राज्य के विरुद्ध जनरोष समस्त रोषों से भयंकर होता है। मन्त्रियों, राजकर्मचारियों या टैक्स देने वाले प्रजावर्ग में व्याप्त रोष समस्त अनर्थों से भयंकर है। प्रजावर्ग की स्वीकृति एवं प्रसन्नता ही राज्य को स्थायीत्व प्रदान करती है। जनमत में राज्यसंस्था के सम्बन्ध में क्षोभ या रोष उत्पन्न हो जाना राज्यसंस्था के लिए महा अनिष्टकारी है। जब प्रजावर्ग राज्य के दुष्प्रबन्ध तथा दुष्टकर्मचारियों के उत्पीड़न से त्रस्त होकर कानून को ललकारते हैं, राजकाज में अवरोध-विध्न

उपस्थित करते हैं तो राज्य संस्था को कमजोर बनाते हैं। उनके गुटबाजी व नारेबाजी से सत्ता की चूलें हिलाने के लिए उपस्थित विद्रोह को शान्त किया जाए। अतः राज्याधिकारी जनता में क्षोभ उत्पन्न करने वाले कार्यों से बचें। प्रजा दुःशासन, अन्याय–उत्पीड़न, दुर्भिक्ष, भूकम्प, महामारी, जलप्रलय, कुशिक्षा, भ्रष्टाचार, उत्कोच आदि कष्टों से कुपित हो जाती है और राज्यसंस्था से विद्रोह के रुप में अपनी असहमति जताती है। प्रजा का राज्य के प्रति रोष, महामारियों तथा वैदेशिक आक्रमण से भी अधिक प्रकोपकारी–विनाशक होता है। इसलिए प्रजा को शान्त व अनुरागी बनाकर रखना परमावश्यक है राज्य संस्था के लिए। राज्यसंस्था का स्वास्थ्य ही जनता का जीवन है, अतः राजकर्मचारियों का सद्व्यवहार जनता से अच्छा होगा तो जनता भी सन्तुष्ट–प्रसन्न होगी। प्रजा की सन्तुष्टि पर ही राज्य का जीवन निर्भर करता है। प्रजा के असन्तुष्ट रहने पर राज्य संस्था की हानि तथा राष्ट्र की दुर्गति अवश्यंभावी है। भारवि का कथन उपयुक्त ही है–

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तः प्रकृतिप्रकोपजः।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखान्तनिघर्षजोऽनलः॥

जैसे वृक्ष के अग्रभाग के संघर्ष से उत्पन्न अग्नि अकेले उस वृक्ष को ही नहीं अपितु समस्त वन एवं पर्वत को फूंक देती है जिस पर वृक्ष खड़ा होता है। इस प्रकार राज्य के किसी भी क्षुद्र व्यक्ति के न्यायसंगत रोष से उत्पन्न जरा सा भी झगड़ा–बखेड़ा समस्त प्रभुसत्ता को धूल में मिला देता है इसलिए राज्याधिकारी प्रजा के रोष को तुच्छ न मान कर भावी दुष्परिणामों को सहस्रगुणा करके देखें और उस विषम स्थिति को उत्पन्न होने न दें।

पंचायती राज्य की कल्पना।

अविनीतस्वामिलाभादस्वामिलाभः श्रेयान्–14

अयोग्य को राजा बनाने से किसी को भी राजा न बनाने में ही राज्य का कल्याण है। दुःशासित एकाधिकार–एकाधिपत्य–स्वामित्व से राज्य को पंचायती राज का रुप देना ही हितकर है।

नीति विहीन, समुद्धत, अन्यायी, अत्याचारी, स्वार्थी मनुष्य को राजा बनाने की अपेक्षा राष्ट्र का राजहीन होना ही बेहतर है। राजा बनाने के लिए यदि कोई सुयोग्य व्यक्ति न मिले तो राजा बनने की योग्यता तथा अधिकार रखने वाले सुशिक्षित जनसमूह का अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है कि राज्यतन्त्र को अपने ही हाथों में रखकर गणतन्त्र की स्थापना कर ले। किसी को राजा बनाना राष्ट्र की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। सुव्यवस्था मात्र राष्ट्र की आवश्यकता है। सत्यनिष्ठ को ही राजा बनाना, जनमत का उत्तरदायित्व है। जनमत की

सामूहिक इच्छाएँ ही, सत्यनिष्ठ-वास्तविक जनशक्ति राजशक्ति है। पारदर्शी-सत्यनिष्ठ जनशक्ति आधार है राजशक्ति की। देश का जनमत, सत्यहीन व्यक्ति को राजा न बनाने या हटा देने पर अपनी स्वतन्त्र सामूहिक चिन्तन शक्ति से अशान्ति कारक शक्तियों का दमन करने का अधिकार पाता है। जब देश का सुशिक्षित जनमत मिलकर अपनी सामूहिक सदिच्छाओं से राजसत्ता संभालने के लिए खड़ा हो जाता है तब उसके लिए राज्य संचालन कठिन काम नही रहता।

परिवर्तन से ड़रकर सत्यहीन राजा को राजा रहने देने से और सत्यहीन राजकर्मचारी को राजकर्मचारी बनाए रखने में यह दोष रहता है कि लोग अपने को कायम बनाए रखने के लिए प्रजा की अशान्ति का दमन करने वाली शक्तियों को दबाकर बैठ जाते हैं और देश मे अशान्ति की ज्वाला को भड़कने देते हैं। ऐसी अवस्था मे लोकमत का कर्तव्य हो जाता है कि सत्यहीन व्यक्ति को राजा न रहने दें तथा सत्यहीन राजकर्मचारी को उसके पद से हटा दें। राजसत्ता के, दुष्टनिग्रह, शिष्टपालन तथा सुशासन कायम करना-ये तीन कर्तव्य हैं। इन तीन उत्तरदायित्वों का पालन न करने से नीतिहीन राजसत्ता तथा उसकी सम्पत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं।

द्वाविमौ ग्रसते भूमिं सर्पो बिलशयानिव।
अरक्षितारं राजानम् ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ (विदुर नीति)

बिल के निवासी, चूहों को खा जाने वाले, साँप के समान भूमि भी, अरक्षक राजा को तथा गुण संग्रह के लिए अप्रवासी ब्राह्मण को ग्रस लेती है।

सम्पाद्यात्मानमन्विच्छेत् सहायवान्। 15

राजा अपने को राजोचित गुणों से सम्पन्न करके अपने ही जैसे गुणी सहायकों को साथ रखकर राजभार संभाले।

राजा या राज्यधिकारी पहले अपने आपको, अपनी इन्द्रियों, मन-बुद्धि को सत्य-विनय आदि, शासकोचित गुणों से सम्पन्न कर ले तभी राज्य-संस्था में हाथ लगाए और वह भी सुयोग्य-गुणी सहायकों के साथ ही केवल। वैसे भी 'अकेला चना भाड़ नही फोड़ सकता' की कहावत उचित ही है। एकछत्र, स्वतन्त्रता पूर्वक निर्बाध सुख भोगने की कामना न करे। वह अपने साथ बुद्धिमान्, सदाचारी, व्यवहार कुशल मन्त्री, पुरोहित, भृत्य, विभिन्न प्रकार के कार्यो में कुशल सभासदों को (अकबर के नवरत्नों की भांति) रखे। धार्मिक गुणी साथियों को साथ रख कर अन्याय-अत्याचार न करते हुए, प्रमादी चाटुकारों का परिहार करते हुए राज्य की स्थिरता, समृद्धि, यश-सफलता का यत्न करे। शौर्य, ज्ञान-विज्ञान नीति से सम्पन्न अनुभवी साथियों से राज्य की सुख समृद्धि बढ़ाने वाला होता है।

मन्त्रीमण्डल

नासहायस्य मन्त्रनिश्चयः। 16

मन्त्रिपरिषद् की बौद्धिक सहायता से हीन, अकेला राजा अपने अकेले सीमित अनुभवों से राज्य के जटिल कर्तव्यों के विषय में उचित निर्णय नहीं कर सकता। सब, सब कुछ नहीं जान सकते के कथनानुसार एक मनुष्य अपने तथा पराये सभी राष्ट्रों की सभी परिस्थितियों से परिचित न हो सकने के कारण स्व-परराष्ट्र विषयक कर्तव्यों के निर्णय में स्वदेश तथा वैदेशिक दोनों प्रकार का अनुभव रखने वाले सूक्ष्मदर्शी, प्रतिभाशाली, अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति अनुभवी विद्वान् मन्त्रियों से मन्त्रणा करना आवश्यक होता है। स्वराष्ट्र-परराष्ट्र के विषय में सोचते समय दोनों राष्ट्रों की समस्त परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं का विश्लेषण करना आवश्यक होता है। इस तुलनात्मक अध्ययन द्वारा अपने देश की आवश्यकताओं का ब्योरा एकदम उभर कर सामने आना चाहिए। तदनन्तर तद्विषयक विशेषज्ञ मन्त्रियों से परामर्श करके ही परराष्ट्र विशेषज्ञ मन्त्रियों से ही सम्पर्क करना व आपसी अदल-बदल, लेन-देन करना चाहिए। इस प्रकार राज्याधिकारी को प्रभावशाली-बुद्धिमान् मन्त्रियों की आवश्यकता होती है।

''सहायसाध्यत्वं राज्यत्वम्'' के अनुसार राज्य संस्था कोई व्यक्तिगत संस्था नहीं होती है। इसमें सहायकों की आवश्यकता अनिवार्य होती है। राज्य की समस्याएँ सम्पूर्ण राज्य-जनसमूह की समस्याएँ होती हैं। इसलिए राजा या राज्याधिकारी अपने राज्य से व्यवहार कुशल चरित्रवान् विशेषज्ञ सर्वश्रेष्ठ विद्वानों का चयनकर उनके अनुभवों से लाभ उठाकर अपने राष्ट्र को विपत्तियों से बचाए एवं साधनों से सम्पन्न करे। महामन्त्री, सेनापति, प्रधान न्यायाधीश, राज्य श्रेष्ठी, राज्य के सर्वश्रेष्ठ चार व्यक्ति,सब प्रकार की सेनाओं के प्रमुख, पुरोहित, अमात्य सभी राजा के सहायक कहलाते है। समाज के ललामभूत योग्य अधिकारियों के सहयोग से ही प्रजातन्त्र भारत राज्य संचालन करता रहा है।

वयस्क मताधिकार का प्रचलन यूरोपीय देशों से भारत में लायी हुई पद्धति है। वयस्क होने मात्र से व्यक्ति अनुभवी नहीं हो जाता। उसके मुख से प्रजा की जरुरतें-इच्छाएँ व्यक्त नहीं हो सकतीं। राज्य पर तो तपस्वी एवं अनुभवी प्रभावशाली व्यक्तियों का होना आवश्यक है। राजा को भी इन्हीं व्यवहारकुशल सदाचारी विद्वानों को सदा अपना सहयोगी बनाए रखना चाहिए। राष्ट्रीय कर्तव्यों के विषय में इन सब लोगों का एकमत्य हो जाना ही 'मन्त्र' कहलाता है।

नैकं चक्रं परिभ्रमयति। 17

जैसे रथ एक पहिए से नहीं चल पाता वैसे ही राष्ट्र भी राजा और मन्त्रिपरिषद् रुपी दो चक्रों से चलना सम्भव है।

राज्य में एकछत्र राज्य से अव्यवस्था ही फैलेगी। दुसाध्य कार्यों में सहायता अपेक्षित होती ही है। अनुभवी मन्त्रियों की व्यवहार कुशलता से, सम्मतियों से प्रबन्धन सुचारु होता है। राज्य में पारिवारिक समस्याएँ तो केवल नहीं होतीं अपितु व्यावसायिक, राजनैतिक भाई चारा सभी में निर्वाह के लिए व्यवहार कुशल दूरदर्शी विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। इसलिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ठीक ही कहा गया है–

सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मान्तेषां च शृणुयान्मतम्॥

राजधर्म योग्य सहायकों की सहायता से ही चलाया जाता है। इसलिए राजा आचार्यों तथा मन्त्रियों की बातों को ध्यान से सुने और तदनुसार आचरण करके अपने राजदण्ड धारण को सार्थक करे।

सहायः समदुःखसुखः। 18

सुख–दुःख में अभिन्नहृदय साथी होकर रहने वाला मन्त्री आदि ही सहायक होता है। परस्पर एक दूसरे के सुख–दुःख को एक सा महसूस करने वाला और तदनुरुप व्यवहार–आचरण करने वाला ही सहायक कहलाता है। दूसरे के सुख–दुःख में शामिल समनस्क व्यक्ति एक दाँतकाटी रोटी वाला हो सकता है। सहायक लोग, समशक्ति, हीनशक्ति, तथा प्रबलशक्ति तीन रुप में हो सकते हैं यह भेद उनकी परिस्थिति पर निर्भर करता है। ये तीनों प्रकार के सहायक समान भाव से अपनाने योग्य होते हैं।

मानी प्रतिमानिनमात्मनि द्वितीयं मन्त्रमुत्पादयेत् 19

मन्त्रोत्पादन से विपत्ति–समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। प्रबन्ध सम्बधी जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए अपने अन्दर उत्पन्न होने वाले विचारों को, दूसरे विकल्पों को सम्मुख लाकर तुलनात्मक विकल्पों को सामने लाते हुए उचित उपायों को सोचें।

राजा प्रस्तुत समस्या के अनुकूल–प्रतिकूल दोनों रुपों, कर्ताव्याकर्तव्य रुपों तथा उससे होने वाले परिणामों पर विचार करे। विचारित कर्तव्य पालन में आने वाले विध्नों के विषय में भी विचार करे। विभिन्न विचारों को नेत्र पटल के सम्मुख ला–लाकर अपने निर्णय के खरे–खोटेपन को परखे। स्वयं से सम्मति माँगे कार्य के करने या न करने के लिए।

अविनीतं स्नेहमात्रेण न मंत्रे कुर्वीत। 20

शासनासध्यक्ष चाहे तानाशाह हो या राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री या मुख्यमन्त्री हो, राजकाज के गम्भीर मामलों में मंत्रियों से, भरोसेमन्द अन्य व्यक्तियों से सलाह करता है। परन्तु इस मन्त्रणा में वह उन्हीं लोगों को शामिल करता है जो उसके मुँहलगे या स्नेहपात्र न हों। वह समझता है कि ये लोग ही उसे उचित सलाह देंगें, उनकी योग्यता को देखे बिना।

आज की राजनीति ऐसी विकृत हो गई है कि उसमें लोभी–स्वार्थी लोग घुसकर छल–प्रपंच ढ़ोंग करने लगे हैं जनता–प्रजा की तकलीफों की परवाह किए बिना। इसकी हमदर्दी दिखावे मात्र की होती है, घड़ियाली आँसु बहाने वाली। अपने स्वार्थवश जनता का सुख–दुःख भूल जाता है। चाटुकारिता से अपने पार्टी–अध्यक्ष के स्नेहभाजन बने होते हैं। ऐसे लोगों की गलत सलाह से नेता–अध्यक्ष गलत निर्णय ले लेते हैं। जिसका दुष्परिणाम देश की जनता को भुगतना पड़ता है।

तुलसीदास ने उचित ही कहा है–

मन्त्री, गुरु अरु वैद जो, प्रिय बोलंहि भय आस

राजधर्म तज तीनि कर, होई वेग ही नाश।।

मंत्री, गुरु और वैद्य यदि भय से या आशा से ठाकुर सुहाती बात कहता है तो राज्य या धर्म या बीमार का शीघ्र ही विनाश हो जाता है।

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः।

इति संचिन्त्य कर्माणि प्राज्ञः कुर्वीत वा न वा।।

बुद्धिमान् राजा अपने सम्मुख उपस्थित कर्म के विषय में सोचे कि यदि मै इस कर्म को करुँगा तों उसका क्या परिणाम होगा और प्रभाव होगा। और यदि न करुगाँ अथवा विपरीत करुँगा तों उसका क्या परिणाम होगा एवं प्रभाव क्या होगा। यह पूर्णरुपेण विचार कर चुकने पर उचितानुचित, कार्याकार्य पर विचार करे। गहन कार्यों के विषय में दोनों पक्षों को तर्क–वितर्क करके निर्णय करे। ''राजा प्रज्ञासहायवान्'' कहा जाता है अर्थात् अपनी प्रज्ञा–बुद्धि बल पर आत्मा की आवाज सुनाई देती है। आत्माभिमुख होने वाले मनुष्य को स्वतन्त्र सम्मति प्राप्त होती है। इसे ''आत्मा में प्रतिमानी मन्त्र का उत्पन्न'' होना कहा गया है।

बाह्यमन्त्रदाता–परामर्शदाता के अभाव में अपने को असहाय न माने और मन्त्रियों पर भी सारा कार्यभार एवं फैसले को न छोड़ कर स्वयं समस्या से जूझे एवं निर्णय ले। उद्भावनी शक्ति से अपनी कल्पना को जाग्रत कर आत्मा की आवाज सुने।

कार्याकार्य विवेकहीन व्यक्ति को केवल स्नेही होने से हितकारी रहस्यों की आलोचना–विश्लेषण में सम्मिलित न करे। उसे गोपनीय रहस्यों में शामिल करने से संकट–आपत्ति सुनिश्चित है। 'कौटलीय अर्थशास्त्र' में स्पष्ट ही कहा गया है– **''कार्यसामर्थ्यात् पुरुषसामर्थ्यं कल्पते''**। कार्य की गुरुता तथा उसके कार्य की योग्यता–अयोग्यता से ही कर्ता की शक्ति की कल्पना होती है। उसी से उसे कार्य के योग्यायोग्य ठहराया जाता है। कार्यों की निपुणता ही मन्त्रियों की योग्यता–सामर्थ्य मानी जाती है।

श्रुतवन्तमुपधाशुद्धं मन्त्रिणं कुर्यात् 21

तर्क शास्त्र, दण्डनीति, वार्ता, त्रयी आदि विद्याओं में पारंगत तथा गुप्तरुप से ली गई लोभ परीक्षाओं से शुद्ध प्रमाणित व्यक्तियों को मन्त्री नियुक्त करे।

कौटलीय अर्थशास्त्र में मन्त्री के गुण निम्न प्रकार से वर्णित हैं– मंत्री स्वदेशज, शुद्धवंशज उदात्त सम्बन्धियों वाला, राजकीय प्रमादों पर राजा को दृढता से रोकने–टोकने वाला समस्त प्रकार के यानों–वाहनों के संचालन में कुशल्, युद्ध–आयुध आदि में कुशल–निपुण अर्थशास्त्र–राजनीति का ज्ञाता, स्वाभाविक सूझ वाला, अविस्मरण शील, आत्मप्रशंसक न होने वाला (अविकत्थनशील) शीघ्रकारी, मधुर–उचित भाषी, अत्यन्त चतुर, प्रतिकार तथा प्रतिवचन में समर्थ स्पष्टवादी, पुरुषार्थी प्रभावयुक्त, कष्ट सहिष्णु, शुद्ध, स्निग्ध व्यवहारी, सुदृढ़, राजानुरागी, शील, बल, आरोग्य तथा बुद्धि सम्पन्न, गर्वहीन, नम्र, स्थिरबुद्धि, सौम्यमूर्ति तथा निर्वैर हो।

उपधा–शुद्ध के दो अर्थ हो सकते हैं– एक तो छल–कपट से रहित जन। दूसरा ऐसा जन जिसकी प्रलोभन दिखाकर परीक्षा ली गई हो और वह उस परीक्षा में खरा उतरे।

मन्त्रमूलाः सर्वारम्भाः 22

भविष्य में किए जाने वाले सभी काम–मंत्र अर्थात् कार्यक्रम की पूर्वकालीन सुचिन्ता से ही सुसम्पन्न होते हैं।

विषय विशेषज्ञों के साथ, तत्कर्म विषयक विधियों, साधनों तथा कर्ताओं की सांगोपांग चिन्तन–मनन समस्त कर्मो की मूल अर्थात् आधारशिला है। कर्मों के समस्त उपक्रम मन्त्रपूर्वक होने पर ही समीचीन होते हैं। तब उनके सुफलोत्पादक होने का सुनिश्चित विश्वास हो जाता है। सोचकर किए कर्म ही समीचीन होते हैं। सुचिन्तित वचन तथा सुचिन्तित कार्य कमी नही बिगड़ते। सभी कर्मों की स्थिरता और दृढ़ता की रक्षा करने का मूल, मन्त्रणा में ही रहता है।

हिताहित विचार की गुप्त बातें 'मन्त्र' कहलाती हैं। अपने राष्ट्र की सुव्यवस्था तथा परराष्ट्र के साथ सन्धि-विग्रहादि कार्यों के स्वरुप का निर्धारण पूर्वतः ही करना पड़ता है। कर्म करने से पहले कर्म के स्वरुप की चिन्ता कर लेनी चाहिए तत्पश्चात् ही उसे करना चाहिए। यही सफलता का सुनिश्चित मार्ग है। इसलिए राजा लोग किसी भी अविचारित काम को हाथ न लगाएँ, प्रत्येक काम में मन्त्र की नीति को अपनाएँ।

मन्त्रणा विषयक पांच बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए-

1. कर्मणामारम्भोपायः 2. पुरुषद्रव्यसम्पत् 3. देशकाल विनिभागः 4. विनिपात-प्रतिकारः 5. कार्यसिद्धिश्चेति।

1. कर्मों को प्रारम्भ करने का उपाय 2. पुरुष तथा अपेक्षित द्रव्य की उपस्थिति 3. कार्ययोग्य उचित देश-काल का निर्णय 4. बिगड़े कार्य का सुधार 5. कर्म सफलता की स्थिति आदि तथा उसके उपायों का निर्णय।

1. कर्मों का आरम्भ एवं उनके उपाय- अपने देश में कहाँ खाई, दुर्ग, भवन, प्रपात झील, विद्यालय, आतुरालय, पान्थशाला, सेनानिवेश आदि बनाने हैं और वे कैसे बनाने हैं ? उनके लिए क्या-क्या प्रारम्भिक कार्यवाही करनी है ?

2. दूसरे राष्ट्रों से सन्धि-विग्रह आदि करने के लिए कहाँ-किसे दूत रुप में भेजना है ? दुर्ग, पोत, कुल्या, बाँध आदि निर्माणों के लिए निर्माण कुशल शिल्पी लोग कहाँ से कैसे प्राप्त करने हैं ? लोहा, लकड़ी, चूना, पत्थर आदि निर्माण सामग्री कैसी-कहाँ से लानी है ? देश-विदेशों से समाचार लाने वाले दूत तथा सेनापति आदि महत्वपूर्ण पदों पर किन-किन पुरुषों को नियुक्त करना है ? सोना-चाँदी-धनधान्यादि कहाँ से प्राप्त करने हैं ? किसे, किस काम के लिए, कितना धन, किस-2 प्रकार से कितने-कितने समय के बाद देना है ?

3. कौन सा काम, किस स्थान पर किस ऋतु और परिस्थिति में करना उचित होगा ? कर्तव्य स्थल की भौगोलिक स्थिति कैसी है ? वहाँ किस ऋतु और परिस्थिति में काम ठीक प्रकार से हो सकता है ? देश में सुभिक्ष रखने और दुर्भिक्ष हटाने के लिए क्या-क्या उपाय करने हैं ? कर्म सदा ही देश-काल और विशेष अनुकूल परिस्थिति चाहता है।

4. अमुक बिगड़े काम को कैसे सुधारना है ? राष्ट्रीय कार्यों की विपत्तियाँ कैसे हटानी हैं ? अतिवृष्टि-अनावृष्टि-मूषक-शलभ-शुकाः- टिड्डी तथा आक्रामक राजा कैसे हटाने हैं? साथ ही अन्दरुनी राष्ट्रकण्टकों से राष्ट्र को कैसे बचाना है?

5. कौन से कार्य की कैसी स्थिति है ? कौन से काम को कैसे वृद्धि देनी है ? कौन से काम को साम-दाम-दण्ड़-भेद से कैसे-किस उपाय से सिद्ध करना है ?

ये मन्त्र के पांच अंग हैं। कार्य इन सबके पूर्णाङ्ग विचार से ही सिद्ध होते हैं। कर्म से पूर्व ही कर्मोपयोगी समस्त चिन्तन पूर्ण हो जाना चाहिए। कर्म के मध्य में उसके विषय में कुछ सोचना शेष नहीं रह जाना चाहिए।

प्रत्येक कार्य में बीच-बीच में कुछ विघ्न पड़ जाते हैं और उन बाधाओं-रुकावटों से कार्य अधूरे पड़े रह जाते हैं। अतः सम्भावित विघ्न-बाधाओं की पूर्व कल्पना आवश्यक है और उनके विकल्प भी सोच लेने चाहिए। इस प्रसंग में चाणक्यनीति का प्रस्तुत श्लोक उपयुक्त ही है-

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
कस्याहं का च मे शक्तिः इति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥

समय कैसा है ? कौन-कौन मेरे मित्र हैं ? स्थान कैसा है ? क्या व्यय और क्या आय हैं ? मैं किसका हूँ और क्या-कितनी मेरी शक्ति है ? इन बातों को बार-बार सोचते रहना चाहिए।

मंत्र रक्षणे कार्यसिद्धिर्भवति। 23

मन्त्र विस्रावी कार्यं नाशयति॥ 24

मन्त्र की रक्षा करने से कार्य सिद्ध होता है। मन्त्र को बाहर निकालने वाला, कार्य को नष्ट कर देता है।

इन सूत्रों में प्रयुक्त मन्त्र शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। सलाह और गुप्त रहस्य। 22 वें सूत्र में चर्चा की गई है कि कार्य को आरम्भ करने से पूर्व उस पर मन्त्रणा कर लेनी चाहिए। इस मन्त्रणा से कार्य की योजना तथा रुपरेखा बनती है। फिर मन्त्रणा के परिणाम स्वरुप जो निर्णय किए जाएँ, उनका पूरी तरह से पालन होना चाहिए तभी वह कार्य सिद्ध होता है। इन निर्णयों का पालन न किए जाने से कार्य के जिम्मेदार व्यक्ति भी मनमानी करने लगते हैं और कार्य असफल हो जाता है।

कार्य की योजना की बारीक बातें केवल सम्बन्धित तकनीकी अधिकारी लोगों के मध्य में ही रहनी चाहिए। धूर्त शत्रु को ज्ञात हो जाने पर हानि अवश्यंभावी है। देशद्रोही, लोभी ईर्ष्यालु व्यक्ति भी इसका लाभ उठा सकते हैं। अन्तरंग बातों के प्रकट होने से कार्य में बाधा होती है।

कार्य मन्त्रणा में नीति निर्धारित की जाति है विदेशों के प्रति क्या नीति अपनाई जाए, युद्ध का संचालन किस ढंग से किया जाय, अपराधों को रोकने के लिए प्रशासन को क्या आदेश और निर्देश दिए जाएँ। इन सब बातों को गोपनीय रखा जाता है। मन्त्ररक्षा का यही अभिप्राय है। इसी बात को ध्यान में रखकर यह नियम बनाया गया है क्यों कि मंत्री मण्डल में होने वाली चर्चाएँ गोपनीय होती हैं। गोपनीयता को भंग करना अनुचित है।

इस विषय पर भारद्वाज, पाराशर, विशालाक्ष, पिशुन, बृहस्पति, उशना, मनु, वातव्याधि, कौटिल्य तथा बाहुदन्ती पुत्रों के मन्तव्य 'कौटलीय अर्थशास्त्र' तथा औशनस सूत्रों में उल्लिखित हैं।

रहस्य–गोपनीयता बनाए रखें (Maintain Secrets): नायक जब बोलता है तो उसे शब्द प्रयोग के विषय में बहुत सावधान रहना होता है। यदि वह कोई भी गलत वाक्य–कथन कहता है तो वह अपनी संस्था का अहित करता है। मुखिया को प्रथमतः रहस्यों को गुप्त रखना आना चाहिए। कौटिल्य, प्रमुख अधिकारी को सावधान करते हैं कि– मुखिया जितने लोगों को गुप्त सूचना देता है वह उतने व्यक्तियों के अधीन (Subservient) हो जाता है अपने उस लाचारी के काम के कारण (1–8–9)

राज्य में अनेक योजनाएँ एवं मुद्दे होते हैं जिनके विषय में मुखिया को किसी से भी खुले रुप में बात–चर्चा नहीं करनी चाहिए। उचित समय आने तक उस बात को लोगों की जानकारी में नही लाना चाहिए।

किसी भी संस्था में कोई भी योजना कार्यान्वित की जाती है तो वह तीन स्तर पर चलती है– 1. विचार विमर्श के स्तर पर (Conceptualisation) 2. तैयारी का स्तर Preperation stage और 3. सौंपने के स्तर पर Delivery stage सभी स्तर पर कुछ गुप्त रहस्य होते हैं जो केवल मुखिया को ही ज्ञात होने–चाहिए। इन्हें किन्ही अन्य को ज्ञात नहीं होने देना चाहिए।

मुखिया यदि अपने रहस्य दूसरों पर प्रगट करता है तो उसे उनसे दब कर उनके अधीन रहना होता है। ऐसे व्यक्ति न केवल उसे ब्लैकमेल करते हैं अपितु जानकारी को उनके प्रतिस्पर्धियों या शत्रुओं को भी दे सकता है। किसी व्यवसाय का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि किसी को कुछ भी रहस्य बताने से पहले दो बार सोचे। दर्जी भी कपड़ा काटने से पहले दो बार नाप लेता है।

कौटिल्य के शत्रु सदैव उससे भयभीत रहते थे कि न जाने उसका कदम–चाल कहाँ होगी ? वह हमेशा अनेक योजनाएँ बनाकर तैयार रखता था। यदि उसकी एक योजना विफल हो जाती थी तो वह दूसरी योजना इस्तेमाल करता था और उससे शत्रु पर प्रहार करता था और शत्रुओं को पूर्णतः हैरान कर डालता था।

भारतीय स्वतन्त्रता सेनानी चन्द्रशेखर आजाद भी एक अन्य व्यक्ति था जो सदैव दूसरों के लिए हमेशा एक अनबूझ पहेली बना रहता था। वह कभी किसी को यह जानने ही नहीं देता था कि अब वह कहाँ जायेगा। ब्रिटिश सरकार ही नहीं केवल अपितु उसके साथी शहीद भगत सिंह भी उसका छिपने का स्थान अता–पता नहीं जानते थे। वह सोचता था कि वह आजाद

है क्योंकि वह जानता-सोचता था कि वह आजाद है और इसलिए उसे अनजान-अज्ञात बन कर स्वतन्त्र-स्वच्छन्द होकर रहना है।

अतः स्वच्छन्द आजाद रहने के लिए सदैव अपना मुँह बन्द रखो।

प्रमादाद् द्विषतां वशमुपयास्यति 25

सर्वद्वारेभ्यः मन्त्रो रक्षितव्यः 26

पुराने जमाने में छोटे-छोटे राज्य होते थे जो परस्पर एक दूसरे पर अधिकार जमाने के लिए लड़ा करते थे। इसलिए युद्ध सम्बन्धी बातें गोपनीय रखी जाती थीं- सेना की शक्ति कितनी है, अस्त्र-शस्त्र का कितना भण्डार-संग्रह है ? किस मोर्चे से आक्रमण करना है? आदि बातों का पता यदि शत्रु को लग जाए तो वह जवाबी कार्यवाही कर सकता है।

अब छोटे-छोटे प्रान्तों में परस्पर युद्ध का खतरा तो नहीं रहा पर बड़ी शक्तियों की तना-तनी चलती रहती है कि कभी भी विश्वयुद्ध छिड़ सकता है। इसलिए सभी देशों को अपनी प्रतिरक्षा का प्रबन्ध रखना पड़ता है। सभी बातें गुप्त रखीं जाती हैं- जैसे सेना का संगठन एवं संचालन, सेना के अड्डों तथा शस्त्र-भण्ड़ारों के स्थान, जाने माने अस्त्र-शस्त्र के अतिरिक्त गुप्त रुप से निर्मित विशेष प्रकार के मारक-प्रहारक-विनाशक अस्त्र-शस्त्र, गुप्तचर संगठन आदि।

प्रत्येक देश में दूसरे देशों के राजदूत (Ambassdor) व गुप्तचर (spy) रहते हैं और वे निरन्तर प्रतिरक्षा सम्बन्धी जानकारी की टोह-खोज में रहतें हैं। देश के अधिकारी जरा भर असावधान रहे तो गुप्त भेदी शत्रु-प्रतिद्वन्द्वी देशों में पहुँच जाते हैं। इसलिए राज्याधिकारी का प्रमुख-प्रथम कर्तव्य होता है कि मंत्र-गुप्त रहस्य की रक्षा रहे और उनके प्रकट होने की जितनी भी सम्भावनाएँ हों उनकी रक्षा का उपाय करें। प्रत्येक देश में ऐसे लोभी-स्वार्थी दुष्ट लोग होते हैं जो शत्रु को भेद बता देते हैं। ऐसे देश-द्रोही स्वार्थी लोगों पर पूरी निगरानी रखनी चाहिए। विदुरनीति में भी बताया गया है-

चत्वारि तु राज्ञा महाबलेन, वर्जान्याहुः पण्डितानि निविद्यात्।
अल्पप्रज्ञेन सह मन्त्रं न कुर्यात्, न दीर्घसूत्रैः रासभैश्चारणैः सह॥

पण्डित चार बातों को जानें जो राजा को छोड़ देनी चाहिए- अल्पबुद्धि, काम में ढील करने वाले, जानकारी में बहुत उतावली करने वाले और झूठी प्रशंसा करने वालों से मन्त्रणा न करे। आचार्य बृहस्पति का भी कथन है-

बालं दुष्टमसाहसिकम् अज्ञानशास्त्रं मन्त्रे न प्रवेशयेत्।

बालक, दुष्ट साहसहीन तथा शास्त्रों से अनभिज्ञ को मन्त्रणा में शामिल न करें 'कौटलीय अर्थशास्त्र' में परामर्श दिया गया है कि–

तस्मान्नास्य परे विद्युः कर्म किंचिच्चिकीर्षितम्।
आरब्धारस्तु जानीयुः आरब्धं कृतमेव वा॥

राष्ट्र के किसी भी इच्छित काम को उसकी समाप्ति तक कोई दूसरा व्यक्ति न जानने पाए। आरम्भ करने वाले लोग भी केवल उसे तब जानें जब वह काम प्रारम्भ कर दिया जाए, शेष लोगों को तो वह पूरा होने पर ही पता चलना चाहिए।

मन्त्रसम्पदा हि राज्यं वर्धते 27

मन्त्र की पूर्ण सुरक्षा तथा उसकी सम्पूर्ति अर्थात् निर्बाध रुपमें पूर्णता से राज्य श्री की वृद्धि होती है।

राष्ट्र का राजकाज, मन्त्रसिद्धि से ही सफल हो पाता है। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में भी कहा है– 'तस्मान्मंत्रोद्देशमनायुक्तो न गच्छेत्' कोई भी अनाधिकारी–असम्बद्ध पुरुष मन्त्र स्थान या उसके आस–पास तक जाने न पाए। और

नास्य गुह्यं परे विद्युः छिद्रं विद्यात्परस्य च।
गूहेत कूर्म इवाङ्गानि यत्स्याद्विवृतात्मनः॥

विजय के इच्छुक व्यक्ति के रहस्य को बाहर का कोई भी व्यक्ति जानने न पावे तथा वह अपने दूतों द्वारा शत्रु के रहस्यों व निर्बलताओं को जाने। ऐसा करने से प्रयोजन अनायास सिद्ध होगा। राजा मन्त्रित कार्यों की जानकारी को, अंगों को समेट कर रखने वाले कछुए की भांति, समेट कर रखे।

श्रेष्ठतमां मन्त्रगुप्तिमाहुः 28

राजधर्म के आचार्य बृहस्पति, विशालाक्ष, बाहुदन्तिपुत्र, पिशुन आदि विद्वान् लोगों ने मन्त्रगुप्ति की नीति को अन्य सभी नीतियों का सिरमौर कहा है–

कर्म में शक्ति संचार करने वाली वस्तु मन्त्र ही है। राज्य की सुरक्षा मन्त्रबल से ही होती है। शत्रु को ज्ञात हो जाने से मन्त्र व्यर्थ या कमजोर हो जाता है, शत्रु के द्वारा काम में बाधाएँ पहुँचाने से। इस प्रकार मन्त्र नाश से शक्ति नाश होता है। अतः मन्त्र रक्षा ही शक्ति रक्षा है। मन्त्र को सुरक्षित रखना ही शक्तिमान् बनना है, 'विदुर नीति' में भी उचित ही कहा गया है–

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य नान्ये जना कर्म जानन्ति किञ्चित्।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः॥

जिस काम को करने की इच्छा है या जो बिगड़ा हुआ काम है उस काम को शत्रु और विरोधी नहीं जान पाते, जिसका मन्त्र काम समाप्त होने तक पूरा गुप्त रहता है उसका कोई भी कार्य खण्डित या अधूरा नहीं रहता।

कार्यान्धस्य प्रदीपो मन्त्रः 29

कार्यांध-किंकर्तव्य विमूढ़ात्मा के लिए मन्त्र पथप्रदर्शक होता है। यह कार्य इष्ट साधक या अनिष्ट कारक है इस प्रकार का संशय होने पर, अन्धकार में प्रकाश प्रदान करने वाला, बुद्धि को प्रखर बनाने वाला होता है। **'सम्मन्त्रय सूरिभिः सार्धं कर्म कुर्याद् विचक्षणः'**। बुद्धिमान् उन विषयों के विशेषज्ञों के साथ मन्त्रणा करके कर्म करे जिससे कार्य निर्विध्न समाप्त हो जाए। अमन्त्रित कार्यों की स्थिति जल में कच्चे घड़ों की सी होती है। सम्मन्त्रित कर्म तो पक्व कुम्भ के समान जल में अटल रहते हैं।

मन्त्रचक्षुषा परछिद्राणि अवलोकयन्ति 30

विजय प्राप्ति के इच्छुक राजा मन्त्रियों से परामर्श रुप आँख से शत्रु पक्ष की राष्ट्रीय निर्बलताओं को देखते हैं। शत्रु की निर्बलताओं का पूरी तरह से पता लगा लेने पर ही उस पर विजय प्राप्ति के लिए तैयारी हो सकती है। शत्रु की निर्बलता जानने के लिए कुशल मन्त्रियों के साथ विचार विनिमय के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं हैं। राज्य रक्षा के सम्बन्ध में योग्य मन्त्रियों के परामर्श बिना अन्धवत आचरण ही होता है। देश-विदेश के विशेषज्ञ मन्त्रियों के लिए यह सम्भव है कि वे शत्रु शक्ति के विषय में ठीक जानकारी लाकर दें कि उनसे युद्ध किया जाए अथवा नहीं। इस प्रकार राजा को मन्त्री की सम्मतियों से ही राजकाज करना चाहिए। इससे शत्रु की शक्ति को भाँपते हुए राजा अपने को अजेय बना सकता है। मन्त्रणा में गुप्तचर विभाग से जानकारियाँ प्राप्त करने में सहयोग लिया जा सकता है।

दूरस्थमपि चारचक्षुः पश्यति राजा-472

गुप्तचरों की आँखों से राजा दूर की भी बातें देख लेता है।

महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य गुप्तचरों को राज्यशासन का आवश्यक अँग मानता था। आज की प्रतियोगिता के वातावरण में प्रत्येक देश संसार भर में अपने जासूसों के माध्यम से विभिन्न देशों की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करता है। और अपने देश को प्रगतिशील बनाता है तथा दलगत विरोधी नीतियों को जान कर उनसे अपनी सुरक्षा भी रखता है।

चाणक्य रचित अर्थशास्त्र में गुप्तचरों के प्रकारों तथा उनकी नियुक्ति से सम्बन्धित एक पूरा अधिकरण है। राज्य में राजकर्मचारियों तथा प्रजा की खुशहाली जानने के लिए राजा पाँच प्रकार के गुप्तचर नियुक्त करे और उन्हें धन और मान से सन्तुष्ट रखे–

पूजिताश्चार्थमानाभ्यां राजा राजोपजीविनाम्।
जानीयुः शौचमित्येताः पंच संस्था प्रकीर्तिताः॥

राजकर्मचारियों व मन्त्रियों की ईमानदारी व वफादारी जानने के लिए अर्थशास्त्र में चार विधियाँ बताई गई हैं– धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा तथा भयोपधा।

धर्मोपधाः– जिस मंत्री की परीक्षा करनी हो गुप्तचर उसके पास जाकर कहे– मुझे राजपुरोहित ने भेजा है। उसने कहा कि हमारा राजा अधार्मिक हो गया है और राज्य करने योग्य नहीं है। हमें उसके स्थान पर किसी योग्य सामन्त को बिठाना चाहिए। आपकी क्या राय है? यह बात सुनकर मन्त्री यदि गुप्तचर को फटकार देता है तो उसे शुद्ध समझना चाहिए अन्यथा अशुद्ध।

अर्थोपधाः– गुप्तचर किसी मन्त्री के पास जाकर कहे 'सेनापति ने भेजा है। उन्होंने कहा है कि यदि आप राजा को गिराने में हमारी सहायता करेंगे तो आपको जितना माँगों उतना धन दिया जायेगा। आपकी क्या राय है?' यह बात सुनकर मंत्री यदि गुप्तचर को फटकार दे उसे शुद्ध समझना चाहिए अन्यथा अशुद्ध।

कामोपधाः– राजा किसी गेरुआ वस्त्रधारी सन्यासिनी को रनिवास में रखे और सबको यह विश्वास हो जाए कि वह रानी की विश्वासपात्र है। वह सन्यासिनी मंत्री या राजकर्मचारी के पास जाकर यह कहे– रानी तुम से प्रेम करती है, तुम्हें उसका प्रेम स्वीकार करना चाहिए, वरना तुम्हारा अनिष्ट होगा। यदि अधिकारी उसे फटकार दे तो शुद्ध अन्यथा अशुद्ध समझा जाए।

भयोपधाः– किसी निकाले हुए मंत्री या राज्य अधिकारी के पास जाकर गुप्तचर उसे इस प्रकार उकसाए– यह राजा अन्यायी है अयोग्य पुरुषों को पसन्द करता है। इसे मार कर किसी दूसरे को राजा बनाना चाहिए। बहुत सारे अधिकारी इसके विरुद्ध हो गए हैं। तुम्हें भी उनका साथ देना चाहिए। वरना तुम्हारे लिए खतरनाक होगा।

यदि ऐसा भय दिखाने पर भी अधिकारी उसकी बात से सहमत नहीं हो तो उसे शुद्ध समझना चाहिए अन्यथा अशुद्ध। जो अधिकारी धर्मोपधा से प्रमाणित हो उसे न्याय के काम में लगाना चाहिए। अर्थोपधा से प्रमाणित अधिकारी को कर–संग्रह के काम में लगाए। कामोपधा की परीक्षा में खरे उतरने वाले को अन्तःपुरविचरण का अध्यक्ष बनाना चाहिए। जो भयोपधा से शुद्ध सिद्ध हुआ हो उसे राजा विश्वासपात्र मानकर महत्वपूर्ण कार्य सौंपे।

जिन अधिकारियों की चारों विधियों से परीक्षा कर ली गई हो, उन्हें ही अमात्य–मन्त्री पद पर नियुक्त करे। अशुद्ध प्रमाणित होने वालों को छोटे पदों पर नियुक्त करे।

अर्थशास्त्र में गुप्तचरों की पाँच संस्थाओं का वर्णन है–

कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस–

कापटिकः– ये गुप्तचर विद्यार्थी का कपट वेश धारण करके विचरण करते थे। राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्रों का पता लगाना और उनकी सूचना देना इनका काम था।

उदास्थित– ये गुप्तचर सन्यासी के वेश में गाँवों के बाहर मठ बनाकर रहते थे। इनका काम किसानों की गतिविधियों पर नजर रखना होता था।

गृहपतिकः– ये गुप्तचर गृहस्थ होते थे और राज्य की ओर से उन्हें गुप्त रुप से जीविका दी जाती थी। ये लोग राजा के पक्ष में प्रचार करते थे।

वैदेहकः– ये गुप्तचर वैश्यों के व्यापार स्थानों में रहते थे और उनकी गतिविधियों की सूचना देते थे।

तापसः– इस श्रेणी के गुप्तचर, तपस्वी के वेश में कापटिक छात्रों के साथ नगर में रहते थे। ये तपस्या का आडम्बर रचकर जनता का विश्वास प्राप्त करते थे। कापटिक छात्र भिक्षा माँगने के बहाने नगर में जाते थे और तापस गुप्तचर के बारे में प्रसिद्धि फैलाते थे कि वह सिद्ध योगी है, भविष्य वक्ता है। लोग अपना भविष्य पूछने उसके पास जाते थे, तब वह बातों–बातों में उनके मन के भेदों का पता लगा लेते थे।

इन पाँच संस्थाओं के अतिरिक्त चार अन्य प्रकार के गुप्तचरों का भी अर्थशास्त्र में उल्लेख है।

सत्रीः– अंगविद्या (हस्तरेखा विज्ञान), जंभक विद्या (वशीकरण मन्त्र) और निमित्त ज्ञान (शकुन शास्त्र) में पारंगत ये गुप्तचर प्रजा की राजा के प्रति वफादारी का परिचय प्राप्त करते थे।

तीक्ष्णः– ये गुप्तचर अत्यन्त बलवान् और शूरवीर होते थे तथा राजा की सेवा में अपने प्राण तक निछावर करने को तत्पर रहते थे।

रसदः– ये गुप्तचर क्रूर स्वभाव के होते थे और राजा के शत्रुओं को भी जहर दे कर मारने में भी संकोच नहीं करते थे। इस श्रेणी के गुप्तचर अधिकारियों के घरों में रसोई बनाने वाला, स्नाान कराने वाला, हाथ–पाँव दबाने वाला बिस्तर बिछाने वाला, नर्तक अथवा गायक के रुप में प्रवेश करते थे और इनकी गतिविधियों की सूचना राजा को देते थे।

भिक्षुकी:– विधवा ब्राह्मणी के रुप में गुप्तचर अधिकारियों के जनाना भाग में स्त्रियों से बातचीत करके अन्दरुनी बातों का पता लगा लेती थीं और रसद को सूचना देती रहती थी।

ये चारों प्रकार के गुप्तचर विशेषतया मन्त्रियों, पुरोहितों, सेनापति, युवराज, समार्हता (लगान वसूल करने वाला) दुर्ग रक्षक, सीमा रक्षक आदि उच्च अधिकारियों की शुद्धता का पता लगाने के लिए नियुक्त किए जाते थे।

ये गुप्तचर राज्य के शत्रु देशों में भी विचरण करते थे। शत्रु देशों के अधिकारियों के पास भी नौकरी कर लेते थे और उनकी गतिविधियों को अपने राजा को भेजते–देते रहते थे। इन गुप्तचरों की शुद्धता परखने–जाँचने के लिए अन्य गुप्तचर भी नियुक्त किए जाते थे जो देखते थे कि वे शत्रु पक्ष से मिल तो नहीं गए।

इसी से मिलती जुलती संस्थाएँ आज भी बड़े–बड़े राष्ट्रों ने स्थापित कर रखी हैं। इसे Spyonage कहा जाता है। विशेषकर रुस व अमेरिका के जासूस आजकल सारे देशों में कार्यरत हैं और कुछ तो इनके (Double agent) होते हैं यानि एक देश के गुप्तचर होते हुए भी दूसरे देश की गुप्तचर संस्था में प्रवेश करते हैं। ये गुप्तचर ही आज भी देश के शासन की आँखों का सा काम करते हैं।

मन्त्रकाले न मत्सर: कर्तव्य: 31

मन्त्रणा के अवसर पर ईर्ष्या–द्वेष नहीं करना चाहिए। दरबार में जब किसी विषय पर चर्चा की जाती है तो विभिन्न व्यक्तियों के विभिन्न मत होते हैं। ये विचार परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। शासक को सारी बातें शान्ति और निष्पक्ष भाव से सुननी चाहिए। वाद–विवाद में एक–दूसरे पर दोषारोपण नहीं होना चाहिए, केवल हितकारी बात पर ही ध्यान दिया जाना चाहिए। हितकामना की दृष्टि से तो बालक की भी बात सुनी–मानी जानी चाहिए– 'युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि'।

लोकतन्त्री शासन–प्रणाली में शासनाध्यक्ष अपने मन्त्रियों से तथा पार्टी के अन्य विश्वसनीय लोगों से मन्त्रणा करता है। वह विपक्षियों से राज्य के गम्भीर मामलों में भी उनकी सलाह नहीं लेता। चाणक्य के इस सूत्र की इस प्रसंग में व्याख्या की जाए तो यह अर्थ निकालता है कि सत्तारुढ़ पार्टी के नेता को ईर्ष्या–द्वेष की भावना छोड़ कर विपक्ष के अनुभवी लोगों से भी परामर्श करना चाहिए। केवल सत्तारुढ़ पार्टी ही देशभक्ति की हकदार–दावेदार नहीं होती। वे ऐसी सलाह नहीं दे सकते जो जनता के लिए घातक हो। तात्पर्य यह हुआ कि देश की गम्भीर समस्याओं के मामले में सत्तापक्ष को, विपक्ष को भी विश्वास में लेना चाहिए। हितकर बात कभी–कभी अभद्र भी लगती तो भी उसका बुरा नहीं मानना चाहिए।

त्रयाणामेकवाक्ये सम्प्रत्ययः 32

1. अपनी अन्तरात्मा की आवाज 2. शासनाध्यक्ष तथा 3. उसके मन्त्रीजन व अन्य अनुभवीजन की सम्मति सम्मिलित होने पर ही निर्णय होना चाहिए। मन्त्रणा के समय विभिन्न मत किए जाने पर भी अन्ततोगत्वा सहमति से निर्णय होना आवश्यक है। 'वादे वादे जायते तत्वबोधः' अर्थात् अलग-अलग मतों पर विचार करने से वास्तविक ज्ञान हो जाता है। पूर्वाग्रहों का त्याग आवश्यक है, एकमत निर्णय के लिए।

कार्याकार्य तत्वार्थ दर्शिनो मन्त्रिणः 33

कार्य-अकार्य के भेद को तथा तत्व की बातों को जानने वाले मन्त्री होने चाहिए। मन्त्रियों में कुछ विशेष गुण होने आवश्यक हैं जैसा कि मनुस्मृति में बताया गया है–

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥

राजा सात-आठ ऐसे सचिव-मन्त्री नियुक्त करे जो सैनिक परम्परा वाले हों, शास्त्रों के ज्ञाता हों, शूरवीर हों, लक्ष्यों को प्राप्त कराने वाले हों, कुलीन हों और जाँचे परखे हुए हों।

शुक्रनीति के अनुसार मन्त्रियों को 'कुल-गुण-शील वृद्ध, शूरवीर, विश्वासपात्र व प्रियभाषी होना चाहिए। जिन मंत्रियों में उपरोक्त सभी गुण होते हैं वे कर्तव्य-अकर्तव्य को जानते हुए, राष्ट्र हित को देखते हुए उसे लक्ष्यों तक पहुँचा सकते हैं। प्राचीन काल में मन्त्रियों की योग्यता पर बहुत बल दिया जाता था। अब मन्त्रियों का सैनिक होना तो आवश्यक रहा नहीं फिर भी उनमें शेष सभी गुण होने चाहिए। आजकल तो मंत्रियों की नियुक्ति का कोई मापदण्ड रहा नहीं केवल राजनैतिक पृष्टभूमि के आधार पर उनकी नियुक्ति हो जाती है। ऐसे में ऐरे-गैरे भी चुनाव में खड़े हो जाते हैं और चुन लिए जाते हैं।

षटकर्णाद् भिद्यते मन्त्रः-34

छः कानों में गया हुआ मन्त्र-रहस्य फूट जाता है। कहावत है कि दिवारों के भी कान होते है- तदनुसार मन्त्रणा कक्ष से भी बाहर नहीं जानी चाहिए। योजना की सलाह-परामर्श अत्यन्त गोपनीय होना चाहिए। मनुस्मृति में कहा गया है-

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः।

जिस राजा की गुप्त बातों को दूसरे लोग इक्ट्ठे होकर भी न जान सकें वह कोषहीन होने पर भी पृथ्वी पर राज करता है।

गुप्त मन्त्रणाओं का महत्व आज भी कम नहीं हुआ है। राज्य में बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जिनके विषय में मन्त्रिमण्डल में गोपनीयता रखी जाती है। इनका पता दुष्ट लोगों को, देशद्रोहियों को तथा अन्य प्रतिद्वन्द्वियों को अथवा उनके गुप्तचरों को लग जाये तो अनर्थ हो जाए।

राजा के कर्तव्य - प्रजा की सुरक्षा

राज्य का उद्देश्य एवं लक्ष्यः- महाभारत और स्मृतियों में, मनुष्यों को राज्य की ओर से सुरक्षा (Protection) प्रदान करना प्रमुख कर्तव्य बताया गया है जिससे वे खुशी से सुख-शान्ति से रह सकें और समाज में सर्वत्र अमन चैन छाया रहे।

प्राचीन संविधान के अन्तर्गत मनुष्यों की सुरक्षा का अधिकार, शासकों पर राज्य धर्म -कर्तव्य के रुप में डाला गया था। यह सभी शासकों पर लागू था चाहे वह देश के किसी भाग में ही हो। राजाओं के कुछ दायित्व निम्न श्लोक में बताए गए थे-

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोषस्य च संप्रवृद्धिः।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा पंचैव यज्ञाः कथिताः नृपाणाम्॥

दुष्टों को दण्डित करना, सज्जनों की सुरक्षा, कोष की वृद्धि, सुनीति पूर्ण ढंग से, पक्षपात रहित होना न्याय-मुकदमों में और देश-राज्य की सुरक्षा ये पांच निष्पक्ष कर्तव्य कहे गए हैं राजा के। (अत्रिसंहिता-28)

नृपस्य परमो धर्म प्रजानां परिपालनम्।
दुष्टनिग्रहणं नित्यं न नीत्या ते विना ह्युभे॥

राजा का सबसे बड़ा कर्तव्य प्रजा की सुरक्षा ओर हितपूर्वक पालन पोषण है दुष्टों को नष्ट करना है- (शुक्रनीति 1,27-28)

उपरोक्त श्लोक में राजधर्म को राज्य नीति के रुप में भारत के संविधान में बताया गया है। इस आदेश (directive) में (राज्य) राजा के कर्तव्य शामिल हैं और नागरिकों के अधिकार शामिल हैं-

(A) पीडित व्यक्ति (Victim) का अधिकार है कि उसे न्याय प्राप्त हो अपराधी को दण्डित करके।

(B) पीडित व्यक्ति का अधिकार है कि शासन की ओर से कुछ गलत-दोष पूर्ण व्यवहार को यदि वह भुगतता है तो उसे राज्य से पक्षपात रहित न्याय मिले।

(C) राज्य से हितकर उपाय–न्याय पाने के लिए राज्य के कानून का पालन करने वाले नागरिकों का अधिकार हो।

(D) अविहित स्वेच्छाचारी Arbitrary Taxation के विरोध में बोलने का अधिकार।

(E) बाह्य उपद्रवों से बचाव का अधिकार सभी नागरिकों को राज्य का सर्व प्रमुख कर्तव्य– अविहित स्वेच्छाचारी Arbitrary actions के विरुद्ध रक्षा करना, राज्य के अफसरों द्वारा और शासक के चहेतों के द्वारा किए जाने पर–

आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजबल्लभात्।
पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधाभयम्।
पञ्च प्रकारमप्येतत् पोह्यं नृपतेर्भयम्॥

प्रजा को राजा के दुष्ट अफसरों से सुरक्षा की आवश्यकता है, चोरों से, राजा के शत्रुओं से, राजा के वल्लभों से जैसे–रानी, राजकुमार और सबसे अधिक स्वयं राजा के लोभ से। राजा को पक्की तरह से विश्वास–भरोसा होना चाहिए कि प्रजा इन भयों से मुक्त है। (कामन्दक verse 82–83)

दण्डनीति

अमित्रो दण्डनीत्यामायत्तः 78

शत्रु दण्डनीति से अधीन–वश में होते हैं। क्योंकि तुम्हारे शत्रु की हानिप्रदता, प्रबलता या निर्बलता तुम्हारी दण्डनीति की सतर्कता या ढ़िलाई पर निर्भर करती है, इसलिए दण्डव्यवस्था पर समुचित ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

यदि तुम्हारी दण्डनीति ढीली होगी, यदि राष्ट्रीय अपराध करने वाले शत्रुओं के अपराधों की उपेक्षा की जायेगी तो शत्रु प्रबल हो जायेंगे और तुम्हारे विरुद्ध आचरण करने का पूरा मौका मिलेगा। शत्रुओं को आरम्भ में ही न दबाने से तो अपने ही राष्ट्र में शत्रु को बढ़ावा देना है। यदि शत्रु को दुष्टदमनकारी उचित उपायों से काबु करने की नीति को नहीं जानोगे तो सतर्कता से उनका उपयोग–प्रयोग भी नहीं किया जायेगा और वे सिर पर हावी हो जायेंगे। अतः निष्कण्टक राज्य भोगने के लिए दुष्टदमनकारी नीति का ज्ञान एवं प्रयोग अनिवार्य है। शत्रुओं को क्षमा करना भारी भूल होगी क्योंकि अवसर पाते ही वे राजा का वधकर देते हैं, इसका इतिहास साक्षी है।

भारत, दण्डनीति में ढ़िलाई से निरन्तर राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास व आर्थिक नुकसान कर रहा है। भारत के लोग स्वतन्त्रता का सच्चा सुख अमन चैन का जीवन नहीं जी पा रहे हैं।

ऐसी विकट स्थिति में भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह इस दण्डनीति को अपने देश में प्रतिफलित करके देश की देशद्रोहियों से रक्षा करे। इस दण्डनीति को देश की राज्यशक्ति में प्रतिफलित तभी किया जा सकता है जब वे अपने सामाजिक जीवन में प्रत्येक देशद्रोही को चाहे वह कितना ही घनिष्ट सम्बन्धी ही क्यों न हो, इस राष्ट्र कल्याणकारी दण्डनीति को देश सेवा की भावना से प्रयोग में लाएँ। देश द्रोहियों से अपने सम्बन्ध विच्छेद कर दें। दण्डनीति ही राष्ट्रशक्ति का मूल है।

दण्डनीतिमधितिष्ठन् प्रजाः संरक्षति 79

दण्डनीति का पालन करता हुआ ही राजा प्रजा का संरक्षण कर सकता है।

राजा, प्रजा के कल्याण के लिए प्रमादशून्य होकर दण्डनीति का सर्वत्र प्रयोग करके ही समुचित ढंग से प्रजा का पालन कर सकता है और अपने स्वामित्व को बनाए रख सकता है। दण्डनीति ही राज्य के शत्रुओं का दमन करने वाला एक मात्र प्रभावकारी साधन है। दण्डनीति में तिल भर प्रमाद होने से राज्यश्री के क्षय का भय रहता है।

राज्यशासन को सतर्क होकर दुष्टनिग्रह का कठोरता से पालन करना पड़ता है क्योंकि उसके ऊपर राष्ट्र सुरक्षा का दायित्व रहता है। राष्ट्र कष्ट का मर्दन करने के लिए सदैव सतर्क व सन्नद्ध रहना पड़ता है। किसी भी दण्डनीय व्यक्ति के अनुनय-विनय से प्रभावित हुए बिना राष्ट्रीय अपराधियों को क्षमा नहीं करना चाहिए। लेकिन साथ-2 किसी भी निरपराधी को दण्ड देकर प्रजा में क्षोभ पैदा नहीं करना चाहिए। अपराधी को क्षमा तथा निरपराधी को दण्ड मिलने से देश में पाप-दुराचार में तथा शत्रुओं के बल में वृद्धि होती है। राज्य में आततायियों की भरमार से प्रजा में त्रासदी का वातावरण बना रहता है और परिणामतः राष्ट्रविप्लव-विध्वंस होता है। आततायियों के व्यवहार से शान्तिप्रिय जनता त्रस्त एवं विपद् ग्रस्त हो त्राहि-त्राहि करने लगती है। व्यभिचारियों-दुराचारियों के द्वारा मान मर्यादा भंग होने से स्त्री-बाल हत्या, लूटपाट, हत्याएँ, अत्याचार निर्बाध रुप में होने लगते हैं। भारत, देश विभाजन के अवसर पर यह सब कुछ देख चुका है और फिर से अब भी भ्रष्टाचार- अत्याचार का खुल्लमखुल्ला प्रदर्शन जनता को भावी असुरक्षा से भरे हुए है। यह सब कुछ स्पष्ट प्रमाण है- राज्य प्रशासन के अयोग्य-लोभी व्यक्तियों के हाथों मे जाने का।

शासकों की उत्कोच से प्रशासन का अधिकार पा जाने से तथा चाटुकारिता से व्यक्तिगत शत्रुता को प्रतिशोध का अवसर मिलता है। राष्ट्र संस्था, लोभियों की भरमार से, लूटमार का गोरखधन्धा करने वाली संस्था लगती है। प्रजापीडन की महामारी से ग्रस्त जनता में अराजकता-विद्रोह-विप्लव फैल जाता है।

दण्ड तो राजा-राज्यशासकों की सुरक्षा के साथ प्रजा की सुरक्षा हेतु भी आवश्यक है। दण्डप्रयोग के बिना प्रजा में मत्स्य-न्याय चल पड़ता है। शासक ही जब प्रजा को उचित न्याय नहीं दे पाते हैं तो प्रजा में अधिक बलशाली निर्बल-दुर्बल को अपने बल प्रयोग से आतंकित करता है। राजा समस्त प्रजा के समक्ष अनुकरणीय आदर्शों एवं कानूनों की तुला-तराजू-पैमाना होता है जिसका अनुकरण जनता करती है। राजा के दण्डाधिकार में ढ़िलाई या दुरुपयोग से राज्य संस्था का प्रभुत्व समाप्त प्रायः हो जाता है। राज्य का अस्तित्व दण्डनीति के समुचित प्रयोग से ही सुरक्षित रहता है। पापी को क्षमा मिलना या अपराधी को दण्ड न मिलना निरपराधियों को दण्ड मिलने जैसा हो जाता है। पापी का रक्षण, निरपराधी का वध बन जाता है। पापी को क्षमा या अदण्ड ही राजा की न्यायशक्ति की क्षीणता को द्योतित करता है। पापी को क्षमा, मूढ़ लोगों की भ्रान्तदृष्टि में दया भले ही प्रतीत हो किन्तु विद्वानों की दृष्टि में राजा की निर्णयशक्ति में क्षीणता ही दिखाई देती है। पापी को क्षमा करना राष्ट्रीय स्तर पर भयंकर अपराध है। दण्ड का उत्तरदायित्व और माहात्म्य शिष्ट रक्षा, अशिष्टदमन, राष्ट्रीय शान्ति रक्षा में ही है। गीता में भी भगवान् कृष्ण के वचन हैं-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥

राष्ट्ररक्षा नामक धर्मपालन के लिए देशद्रोही रुपी पापियों को नष्ट करने का चक्र चलाना ही होगा। शास्त्रों में ही दण्ड नीति की प्रशंसा में कहा है-

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं बिदुर्बुधाः॥ मनु

दण्डनीति ही प्रजा पर शासन करती है और वही दुष्कर्मियों से प्रजा की रक्षा भी करती है। सोए हुओं में दण्ड ही जागरुक है। विद्वान् लोग दण्ड को ही धर्म कहते हैं।

दण्ड का माहात्म्य- दण्डःसम्पदा योजयति 80

दण्ड ही राजा या राज्य को समस्त सम्पदाओं से युक्त करता है।

दण्ड, न्याय का पर्यायवाची है। प्रजा दण्ड से ही वश में रहती है। प्रजा का राज संस्था के वश में रहने से वे कर्तव्य पालन में सदैव उद्यत एवं तत्पर रहती है इसके न रहने से क्रय-विक्रय, खान-खजाना-आकर, आयकर, तटकर, ऋणदान-प्रतिदान, न्याय-अन्याय, हाट-घाट सब ओर से आय के साधन अवरुद्ध हो जाते हैं। राष्ट्रीय कोष में आयकराधिकारी पैसा जमा न करा कर अपनी जेब में रखते हैं। इस प्रकार की लूट में खजाना खाली होने लगता है। अतः राष्ट्र की सम्पन्नता के लिए दण्ड नीति से ही लूट को रोका जा सकता है।

दण्ड के अभाव से हानि

दण्डाभावे मन्त्रिवर्गाभावः - 81

राज्य में दण्डनीति के उपेक्षित होने पर राजा सुमन्त्रियों से परित्यक्त्य होकर कुमन्त्रियों के वश में आ जाता है।

देश विदेश सम्बन्धी दण्डनीति के उचित प्रयोग के लिए श्रेष्ठ विचक्षण मन्त्रियों की आवश्यकता होती है। दण्डनीति का महत्व न आंकने वाले राजा सुमन्त्रियों के स्थान पर कुमन्त्रियों से घिरा हुआ चाटुकारिता की भाषा में उनकी दुर्बुद्धि को समझ नहीं पाता है। उचित मार्गदर्शन के अभाव में अनुचित निर्णय लेने से राज्य-प्रशासन खोखला हो जाता है।

दण्ड के लाभ

न दण्डादकार्याणि कुर्वन्ति -82

अपराधी प्रवृत्ति के लोग निग्रह, ताडन, वध तथा अर्थ दण्ड के भय से संविधान विरोधी नीतिहीन कार्यों से निवृत रहने लगते हैं।

पापियों का दण्डभय से पाप से निवृत रहना ही धर्मपूर्ण राजशासन कहलाता है। धर्म को त्रिवर्ग इसी लिए कहा जाता है क्योंकि वह धर्म-अर्थ-काम की रक्षा करता है। **''दण्डेन संहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका-(महाभारत)** दण्ड की सहायता से ही राजशक्ति लोकरक्षा करने में समर्थ होती है।''

दण्ड आत्मरक्षक

दण्डनीत्यामायत्तमात्मरक्षम्-83

दण्डनीति को ठीक रखने पर ही आत्मरक्षा हो सकती है।

जिसकी दण्डनीति सुरक्षापूर्ण होती है उसकी ही आत्मसुरक्षा सुनिश्चित होती है। राजा की दण्ड प्रयोजक नीति पर ही राजा की विपद्-विजय सुनिश्चित होती है। प्रजा का कल्याण ही राजा का कल्याण है और प्रजा की सुरक्षा ही उसकी आत्मरक्षा है। राजा प्रजा का मुखिया-अगुआ है, प्रजा के सुख-चैन से राजा का सुख चैन झलकता-व्यक्त होता है।

राजा अपने राष्ट्र का सर्वप्रमुख नागरिक है। प्रजा ही राजा को अपने मुखिया के तौर पर चुनती है। यही कारण है कि यदि वह प्रजा का हित न देखे-करे तो राजा का विनाश सुनिश्चित है। प्रजा से हटकर-कटकर राजपुरुषों की महफिल जमाकर राज्य प्रशासन चलाना चाहे तो उसका प्रभुत्व-धाक प्रजा पर कुछ भी असर न करेगी। अतः राजा को टैक्स देने वाली प्रजा, मंत्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, कारागाराधिपति, कोषाध्यक्ष, कार्यनियोजक, दण्डपाल, दुर्गपाल, गुप्तचर आदि पर अपना प्रभुत्व स्थिर रखते हुए तथा अपनी दण्डनीति का उन पर प्रभाव डालते हुए आत्मरक्षा करनी चाहिए।

आत्मनि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवति 84

राजा द्वारा आत्मरक्षा का राष्ट्रीय महत्त्व और राष्ट्र

आत्मरक्षित होकर रहना ही राजा के हित में है।

राजा समस्त राष्ट्र की सदिच्छाओं एवं शक्तियों का प्रतिनिधि होता है। राजा पर बल प्रयोग–आक्रमण एवं पराजय, राष्ट्र एवं प्रजा के विनाश का सूचक है। दण्डाधिकार के अहंकार से ग्रस्त होकर दण्डनीति का दुरुपयोग न करे। ऐसा करके वे प्रजा के शत्रु तथा स्वार्थी एवं दुराचारी आततायियों का साथ न दें। इससे राजद्रोह एवं प्रजाद्रोह से बचे रहेंगे राजा।

आत्मायत्तौ वृद्धिविनाशौ -85

मनुष्य के वृद्धि–विनाश अपने ही अधीन होते हैं।

राष्ट्रोन्नति राजा और प्रजा दोनों की योग्यता–अयोग्यता पर निर्भर होते हैं। सुबुद्धि से वृद्धि तथा कुबुद्धि से विनाश होता है। राजा के सुयोग्य होने पर राज्य विस्तार तथा प्रजा में सुख चैन होता है किन्तु नीति हीन, मद्यप, दुराचारी–व्यभिचारी, जुआरी, आखेटक तथा निर्गुण होने पर सुशासन नहीं होता।

दण्ड प्रयोग में सावधानी

दण्डो हि विज्ञाने प्रणीयते 86

दण्ड का प्रयोग समझकर किया जाना चाहिए। परिणामों की सम्यक् आलोचना करके ही दण्ड प्रयोग किया जाना चाहिए। सदसद् विवेक रुपी आलोचना से ही वास्तविकता का पता चलता है और तभी दण्ड का औचित्य निर्धारित होता है। छोटे–छोटे विवाद उच्च न्यायालयों तक पहुँच कर न्यायधीशों को भ्रमित कर देते हैं। वे निर्णय करने में असमर्थ हो जाते हैं कि किसे वे दण्डित करें। अपराधी का पकड़ा जाना तथा अपराध सिद्ध होना सहज नहीं होता। अतः क्रोध या स्वार्थ की उत्तेजना या आकांक्षा में दण्ड प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। सूक्ष्मतः विचार–विमर्श के उपरान्त ही बाह्य प्रभावों से अप्रभावित होकर निर्णय करना उचित है।

राजा की अवज्ञा राष्ट्रीय अपराध

दुर्बलोऽपि राजा नावमन्तव्यः- 87

राजा को दुर्बल–साधारण मनुष्य मात्र मान कर उसकी अवज्ञा–अनादर न करे। राजा अकेला ही समस्त प्रजाजन का प्रतिनिधि होता है। इस कारण समस्त जनशक्ति एक अकेले राजा में ही समाहित होती है। राजा ही प्रजा का दिग्दर्शक है।

नास्त्यग्नेर्दौर्बल्यम्- 88

आग कभी दुर्बल नहीं होती। जैसे अग्नि का सूक्ष्म भी स्फुल्लिंग ईंधन के संयोग से महाग्नि बनकर फूट पड़ता है और महाविनाश करने वाला होता है, इसी प्रकार राजा के रुप

में सिमटा हुआ तेज, फूट पड़नेपर जनशक्ति का सम्बल पाकर अवमानी का विनाशक हो सकता है।

राजा को एक अकेला व्यक्ति के रुप में देख कर उसकी व्यक्तिगत अवहेलना–तिरस्कार उचित नहीं है। जो शासक–राजा अपने को उच्च वर्ग का मान कर और प्रजा को क्षूद्र–तुच्छ मान कर, स्वयं को उनसे अलग रख लेता हैं वह स्वयं ही उनकी उपेक्षा का पात्र बन जाता है। जब तक वह प्रजा के साथ लगा–जुडा रहता है तब तक प्रजा भी उसके साथ लगी रहती है और वह अपने को सबल बनाए रखता है।

दण्डनीति राजा की योग्यता की परिचायक

दण्डे प्रतीयते वृत्तिः -89

राजा का स्वभाव–चित्तवृत्ति, सम्पूर्ण शासकीय योग्यता या विशेषता, उसकी दण्डनीति–शासन प्रवृत्ति से प्रकट होती है। अथवा, यूँ भी कह सकते हैं कि प्रजा की जीवन यात्रा, दुःसाहसी लोगों पर न्याय–दण्ड का प्रयोग होते रहने पर ही, ठीक–ठाक चलती है। देश में न्याय–दण्ड का अभाव हो जाने से, लोगों के पारस्परिक विवादों से जीविका की हानि होकर लोकयात्रा तक रुक जाती है। तब प्रजा राजा के विरुद्ध विद्रोह भी करने को विवश हो जाती है।

राजचरित्र अर्थलाभ का आधार

वृत्तिमूलमर्थलाभः - 90

राज्यश्री की प्राप्ति राजा के चरित्र पर निर्भर होती है।

राज्यैश्वर्य का लाभ चरित्र मूलक या दण्डनीति के उचित प्रयोग से ही होता है। राजा प्रजा दोनों का ही चरित्र ठीक होने पर ही दण्डनीति–राजनीति का उचित प्रयोग होने से राजा–प्रजा दोनों को ऐश्वर्यलाभ होता है। धोखाधड़ी से रहित चारित्रिक सुव्यवस्था या देश में मानसिक शान्ति–सन्तुष्टि–भरोसा–विश्वास और सदिच्छाओं के वातावरण के बिना ऐश्वर्यलाभ असम्भव है। राजशक्ति के भ्रष्टाचारी हो जाने पर प्रजा में अशान्ति होने पर और सदाचार की प्रवृत्तियाँ न रहने पर धर्म की तथा साथ ही धनार्जन न कर पाने से धन की महती हानि होती है। जीवन साधनों के अप्राप्य हो जाने से प्रजा में विद्रोह–असन्तोष हो जाता है। प्रजा में राष्ट्र में सुख–चैन एवं समृद्धि के लिए, राजा एवं प्रजा में धार्मिक प्रवृत्तियों का होना, राष्ट्र को धनी बनाने में सहायक होता है। राष्ट्र की अधार्मिक जनता तो राष्ट्र की शत्रु ही होती है। वह स्वार्थवश राष्ट्र की हानि को रोकने में उद्यत–तत्पर नहीं होती अपितु अपनी आँख भीच लेती है।

कुकर्मी, अधर्म से उपार्जित धन के बल पर धार्मिकों को सताते हैं। अधर्म का, धार्मिकों को पीडित करने वाला देवासुर संग्राम चलता रहता है। प्रजा के उपार्जन साधनों के निर्विध्न बने रहने पर ही राष्ट्र में सुख चैन रहता है नहीं तो राष्ट्रविप्लव से राज्य ध्वस्त कर दिया जाता

है। अत: प्रजा के शान्त–सन्तुष्ट होने पर ही प्रजा धनोपार्जन करती है। जिससे राष्ट्र धन सम्पन्न होता है।

धर्म एवं काम अर्थाश्रित हैं

अर्थमूलौ धर्मकामौ- 91

ऐहिक कर्तव्यों के पालन के साथ–2 मानसिक सन्तोष होने पर धर्म का अनुष्ठान तथा राष्ट्र की कामनाओं–अभावों–आवश्यकताओं की पूर्ति राज्यैश्वर्य की स्थिरता पर ही निर्भर करती है।

अर्थ के बिना देशहितकारी कर्मों में दान तथा भोग नही होता। धन का उपार्जन गल्त ढंग से अनैतिक ढंग से नहीं होना चाहिए। महाभारत में भी कहा गया है- **''परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ''** अर्थात् मनुष्य उस अर्थ और काम के–भोग को तिलांजलि दे दे जो मानव धर्म के अनुरुप न हो। धर्मघाती अर्थोपार्जन कदापि न करे। धर्म–अर्थ–काम के–त्रिवर्ग का समान रुप से पालन किया जाए तो ही राष्ट्र हितकारी होता है। अर्थ की सार्थकता तभी है जब उसका धर्म एवं भोग में उपयोग हो। अर्थ और काम धर्म के अनुगामी होने पर ही सार्थक होते हैं। अधर्मोपार्जित अर्थ तो अनर्थ का कारण होता है।

मित्रम्

आपत्सु स्नेहसंयुक्तं मित्रम्-35

विपत्ति के दिनों में सहानुभूति रखने वाले लोग मित्र कहलाते हैं। जो लोग विपद्ग्रस्त की विपत्ति को अपने ऊपर विपत्ति मान लेते हैं और आपत्काल में विपद्ग्रस्त का साथ देते हैं उन्हीं को मित्र कहा जाता है। आपत्ति के समय मित्र को अकेला छोड़ देने वाले मित्र कहलाने के अधिकारी नहीं। विपत्तियाँ ही व्यक्ति की पहचान कराती हैं कि वह मित्र है या शत्रु है या मित्रता का आवरण ओढ़े स्वार्थी व्यक्ति है। विपत्ति के दिनों में साथ देने वाला और कष्ट को खुद भी झेलने वाला ही वस्तुतः मित्र है। अच्छे-सच्चे लोगों का मानसिक जुड़ाव तथा तन से उसे झेलना वही मित्रता कहलाती है। स्वार्थ बन्धन या दलीय जुटबन्दी मित्रता नहीं है। ''राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः''- राजसम्मान अथवा राजदण्ड या मृत्यु आदि अवसरों पर साथ निभाने वाला ही बन्धु-सखा है।

सामने प्रशंसा और हित की बात कहना, उसको अनुशासित करना, गल्त सही का बोध अहसास कराने, भले-बुरे को बताकर उसे पापकर्म से निवृत करने वाला ही सच्चा-हितैषी मित्र है-

स किं सखा साधु न शास्ति योऽधिपं, हितान्न यः संशृणुते स किं प्रभुः।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं, नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः॥

स्वामी को उसके हित की बात न समझाने वाला मित्र रुप मन्त्री सच्चा मित्र नहीं, मन्त्री से हित की बात जानकार भी उसका पालन न करने वाला खोटा स्वामी है। राजाओं तथा मन्त्रियों में हित की बात कहकर तदनुरुप करवा लेने से ही सम्पत्तियाँ अनुकूल हो जाती हैं।

इस प्रसंग में विभिन्न विद्वानों के मत भी उद्धृत किए जा सकते हैं-

1. **तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यत्**- मित्र वह है जो संपत और विपत् दोनों में पूरा-पूरा साथ दे और समान प्रतिकार करे।

2. **मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः**– मित्रों के वे कर्तव्य जो एक बार अपने विपत् ग्रस्त मित्र की सहायता के रुप में स्वीकृत हो जाते हैं कभी मन्द नहीं होते।
3. **समानशील व्यसनेषु सख्यम्**– जिनके शील समान और एक ही प्रकार की विपत्ति के शिकार होते हैं उनमें मित्रता होती है।
4. **करावित्र शरीरस्य नेत्रयोरिव पक्ष्मणी।**
   अविचार्य प्रियं कुर्यात् तन्मित्रं मित्रमुच्यते॥

जैसे शरीर पर चोट लगने से हाथ शरीर की और आँख पर चोट लगने पर पलक आँखों की रक्षा बिना विचारे ही तुरन्त करती है वैसे मित्र को विपत् में देखकर तत्काल उसकी रक्षा के लिए दौड़ पड़ता है वही मित्र है।

5. **शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः।**
   दाक्षिण्यं चानुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः॥

पवित्रता, त्यागशीलता, मित्र के विपद्वारण के लिए शौर्य–पराक्रम, सुख–दुःख में समानता उसके हितसाधन के लिए चातुर्य, अनुराग तथा सत्यता ये मित्र के गुण हैं।

6. **उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।**
   राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बाँधवः॥

जो मनुष्य उत्सव, विपत्ति, दुर्भिक्ष, राष्ट्रविप्लव, राजद्वार तथा मृत्यु के संकट में भी साथ देता है वही बान्धव है।

7. **शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम्।**
   केन सृष्टमिदं रत्नं मित्रमित्यक्षरद्वयम्॥

शोक, शत्रु व भय से रक्षा करने वाली, प्रीति तथा विश्वासपात्र मित्र नाम की दो अक्षरों की जोड़ी किसने बनाई है?

8. **प्राणैरपि हिता वृत्तिरद्रोहो व्यावर्जनम्।**
   आत्मनीव प्रियाधानमेतन्मैत्रीमहाव्रतम्॥

प्राण पण से भी हितचेष्टा करना, द्रोह तथा छल कपट से व्यवहार न करना, मित्र को अपने समान प्रेम करना, यही मैत्री नामक महाप्रिय व्रत है।

9. **पापान्निवारयति, योजयते हिताय, गुह्यं च गूहति, गुणान् प्रकटीकरोति।**
   आपद्गतं न च जहाति, ददाति काले, सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्ताः॥

पाप से रोकता, हित में लगाता, गोपनीयता को छिपाता, गुणों को प्रकट करता, विपत्ति में फंसे हुए को नहीं त्यागता, समय पर देता भी है उसी को सन्त लोग सन्मित्र कहते हैं।

10. मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः,
पात्रं यत्सुखदुःखयोः सह भवेन् मित्रेण तद्दुर्लभम्।
ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्यमभिलाषाकुलास्,
ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्।।

जो मित्र नयन को प्रीतिरस तथा चित्त को आनन्द देने वाले, मित्र के सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख मानने वाला मित्र संसार में दुर्लभ होता है। और जो मित्र द्रव्य की अभिलाषा से समृद्धि के समय में आकुल होते हैं ऐसे तो संसार में बहुत से मित्र मिल जाते हैं परन्तु विपत्ति उन स्वार्थी मित्रों की कसौटी बन जाती है।

आधुनिक काल में मित्र उपरोक्त व्यवहार में दृष्टिगत नही होता। संसार में राष्ट्रों का राष्ट्रों के साथ, पार्टियों का पार्टियों के साथ, व्यक्तियों की व्यक्तियों के साथ धूर्ततापूर्ण मैत्री देखने में आती है। इन सभी मित्रताओं में स्वार्थ-मोह होने से यह बन्धन टूट जाते हैं। वस्तुतः सत्यनिष्ठ उचित व्यवहारी मन अपना शत्रु-मित्र होता है। अतः गीता के वचनों का अनुसरण करते हुए- व्यक्ति अपना उद्धार स्वयं ही करे-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः।।

बाह्य जगत के शत्रु-मित्रों के अतिरिक्त व्यक्ति अपनी आत्मा की आवाज न सुनने से अपना ही बैरी हो जाता है। आत्मरक्षा प्रवृत्ति में जैसे पलक आँख की तथा हाथ शरीर की रक्षा करता है वैसे ही अन्तरात्मा बुराई, बुरे कामों, बुरे लोगों से सावधान रहने की नेक सलाह देती है। मनुष्य अपने ऊपर से विपद् हटाने को स्वभावतः उद्यत-तत्पर हो जाता है। इस प्रकार अपनी आत्मा सत्य के स्वरुप को जान कर अपना सहायक बन कर बुराईओं से स्वयं को हटा लेता है।

सत्यहीन दलबद्ध राष्ट्रों, राजनेताओं तथा भौतिक स्वार्थ रखने वाले सम्बन्धों से सम्बद्ध मनुष्यों तथा लूटने वाले डाकू समूह परस्पर मित्र होते हुए भी लेकिन ठगी में लगे होने के कारण एक दूसरे के शत्रु ही होते हैं। लेकिन सत्यनिष्ठा के कारण विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति के उद्धार के लिए समस्त समाज ही उसका उद्धारक, मित्र, हितैषी हो जाता है। अतः सत्यनिष्ठ व्यक्ति सम्पूर्ण जगत् को ही अपना मित्र बना लेता है।

मित्रसंग्रहेण बलं संपद्यते 36

सच्चे मित्रों का संग्रह करने से मनुष्य को बल प्राप्त हो जाता है। सच्चा मित्र मनुष्य का बहुत बड़ा बल होता है। वह अच्छे स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, सेना तथा मित्र किन्हीं

भी सात रुपों में से हो सकता है ऐसा कामान्दक नीतिकार का कथन है। अमरसिंह की नीति में, कर (टैक्स) देने वाली जनता भी राजा के लिए आठवें प्रकार का बल, कहा गया है। बल जैसे शारीरिक शक्ति का वाचक है वैसे ही अधिक सहयोगी-सहायक मित्र राजा की शक्ति का द्योतक है।

जिस राज्य या राष्ट्र के अनेक मित्र होते हैं उसका शत्रु कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। दैवी आपदा अथवा आर्थिक संकट होने पर भी मित्र देश उसकी सहायता करते हैं।

आजकल विभिन्न देशों में गुटबाजी से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किए जा रहे हैं। एक ही गुट में रहने वाले राज्य परस्पर एक-दूसरे के मित्र समझे-माने जाते हैं परन्तु समय-2 पर निष्ठाओं-भावनाओं-चाहतों-जरुरतों में फर्क आने पर गुटों में अदला-बदली होने लगती है क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र के अपने हित तथा स्वार्थ होते हैं। द्वितीय महायुद्ध के दौरान और उसके बाद मैत्री सम्बन्धों में अदला-बदली खूब देखने में आई। रूस पहले जर्मनी का मित्र और ब्रिटेन तथा अमेरिका का शत्रु था। पर जब हिटलर ने रूस पर आक्रमण कर दिया तब रूस इन दोनों का मित्र बन गया। जापान पहले जर्मनी का मित्र था, अब अमेरिका का सबसे बड़ा मित्र है। जर्मनी के भी दो हिस्से हो गए एक अमेरिकी गुट में है, दूसरा रूसी गुट में है। फ्रांस जो ब्रिटेन का शत्रु था अब मित्र है। चीन पहले रूस का घनिष्ट मित्र था, अब उसका शत्रु हो गया है और अमेरिका से मैत्री कर रहा है। तात्पर्य यह है कि आज की अन्तःराष्ट्रीय राजनीति में कोई भी किसी का स्थायी मित्र नहीं है और न स्थायी शत्रु। वही हाल हमारी आन्तरिक राजनीति का है। कौन पार्टी किस की मित्र है और कब तक किस की मैत्री किस से निभेगी, कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि राजनीति स्वार्थ प्रधान व नेता प्रधान है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में रूस अब तक हमारे देश का मित्र रहा है, परन्तु यह मैत्री भी निस्वार्थ नहीं कही जा सकती। आजकल रूस व अमेरिका की परस्पर होड़ चल रही है हम पर अपनी मैत्री का दबदबा बनाए रखने का। जो रूस, भारत को अमेरिका से अलग रखना चाहता है उसकी यह पूरी कोशिश है कि भारत उसके गुट में ही रहे। हमारे नेता-राजनेता इस बात को भली प्रकार समझते हैं और तदनुसार ही सावधानी बरतते हैं।

इस हालात में कोई भी राष्ट्र दावे के साथ नही कह सकता कि अमुक राष्ट्र उसका मित्र है, तो फिर मित्र-संग्रह कैसे किया जाए? यह समस्या सभी के सामने है, इसीलिए सभी अपना-अपना बल बढ़ाने में संलग्न है और इस होड़ में मित्र-संग्रह के बजाय शस्त्रास्त्र संग्रह की होड़ मच गई है।

बलवानलब्धलाभे प्रयतते 37

सच्चे मित्रों के बल से बलवान् व्यक्ति अप्राप्त राज्यैश्वर्य पाने या उसे निरन्तर बढ़ाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता है। बल के उपयोग से निरन्तर यत्नशील रहे ऐश्वर्य प्राप्ति एवं वृद्धि के लिए। 'किंबलेन यच्च रिपून्न बाधते'। वह बल किस काम का जो दुष्टों-शत्रुओं का संहार करके अपनी राज्यश्री बढ़ाने के काम न आए। अनुपयोग से बल भी कुण्ठित हो जाता है जैसे चाकु या कोई भी हथियार।

अलब्धलाभो नालसस्य 38

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नही हो सकती आलसी को। न करने योग्य काम को करना तथा करने योग्य कामों से बचना ही आलस्य कहलाता है।

षड्दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोधं आलस्यं दीर्घसूत्रता॥ (विदुर नीति)

कल्याण चाहने वाला व्यक्ति, इस संसार में अतिनिद्रा तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य तथा काम को लटकाए रखने के, छः दोष छोड़ दे। और भी-

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः

महाशत्रु आलस्य जो हमारे शरीर में स्थित होकर हमारा ही नाश करने वाला है। उसे निकाल कर अपना उत्कर्ष-अभ्युदय करे। आलसी शासक या राजनेता न तो अपनी सम्पदा की रक्षा कर सकता है और न ही उसे बढ़ा सकता है-

अलसस्य लब्धमपि रक्षितुं न शक्यते 39

न चालसस्य रक्षितं विवर्धते 40

न भृत्यान् प्रेषयति 41

काम से बचने वाला स्वामी, सेवकों से भी काम लेने भी आलसी-लापरवाह हो जाता है।

न तीर्थं प्रतिपादयति 41 क

तीर्थ का अर्थ पवित्र स्थल होता है। इसी प्रकार पूजनीय विद्वानों-गुरुजनों को भी तीर्थ कहा जाता है। शासक प्रमाद वश विद्वानों व गुणीजनों का सम्मान नही करते और परिणामतः उनके ज्ञान एवं अनुभव से वञ्चित रह जाते हैं। इन्हें अपनी नीति के समर्थक प्रमुख वर्ग के घनिष्ट सम्पर्क में रहना चाहिए। निराभिमानी, निरालसी होकर इनकी सेवा से इनकी सीख लेते रहना चाहिए।

सेवितव्यो महावृक्षो फलपुष्पसमन्वितः
फलन्नापि लभते यदि छाया केन निवार्यते।
अलब्धलाभदिचतुष्टयं राज्यतन्त्रम् 42

1. अलब्ध का लाभ 2. लब्ध की रक्षा 3. रक्षित का वर्धन 4. रक्षित का उचित-योग्य राजकर्मचारियों की नियुक्ति से व उचित कार्य विनियोजन से राज्य व्यवस्था को बनाए रखना। इन्हीं चार बातों पर राज्यसत्ता कायम रहती है। तात्पर्य है कि राजा को न तो अर्थवृद्धि में प्रमाद करना चाहिए, दूसरे, राजकोष से प्राप्त धन का अपव्यय न करे और नहीं अनुपयोग से उसे नष्ट होने दे क्योंकि श्री की भोग-दान-नाश तीन ही गति होती हैं। राजा सामादि उपायों से प्रजा से कर (टैक्स) अथवा उचित अवसरों पर भेटें स्वीकार करे जैसे मधुकर पुष्पों से थोड़ा बहुत रसपान करता है अथवा पृथ्वी-समुद्र से जल सोख कर सूर्य पुनः पृथ्वी पर उसे सहस्रगुणा करके उसकी उत्पादकता बढ़ाने के लिए पुनः उसी पृथ्वी पर बरसा देता है। वैसे ही राजा भी प्रजा हितार्थ उस पर खर्च कर दे। राजकीय आड़म्बरों पर खर्च न करके उनके सुख-सुविधाओं पर खर्च करे।

राज्यतन्त्रायत्तं नीतिशास्त्रम् 43

राजकीय-राज्य व्ययवस्था की नीति के अनुसार ही समाज में व्यवहृत नीतिशास्त्र होता है। राष्ट्र में नैतिकता राज्यतन्त्र की नीति परायणता के अनुसार ही होती है। यदि राज्यतन्त्र में नीति का प्रयोग न हो रहा हो तो जन-समाज में नीति नाम की कोई वस्तु नहीं होती। राज्यतन्त्र के समानानन्तर ही समाज की नैतिकता चलती है। नीति राज्यतन्त्र में सीमित तथा राज्यतन्त्र से ही सुरक्षित रहती है। राज्यतन्त्र व मानव-समाज साथ-2 चलता है। राज्यतन्त्रहीन समाज मानव समाज सभ्य-शिष्ट नहीं हो सकता। राज्यतन्त्र को न मानने या भंग करने वाला नीतिहीन कहलाता है। समाज से बाहर चला जाना या समाज को अस्वीकार कर देना ही नीतिहीनता है। राज्यतन्त्र से नीति बनी, पहले समाज बना तब उसकी नैतिकता या नीति नियम। समाज और राजतन्त्र में कोई अन्तर नहीं होता। नीति ने समाज नहीं बनाया अपितु समाज-राज्यतन्त्र ने नीति बनाई। मनुष्यों का नीतिबन्धन-नैतिकता में रहना ही 'समाज' कहलाता हैं। संगठित-समाज बद्ध होकर रहना ही उसकी सामाजिक स्थिति-पहचान होती है। समाज में शान्ति का राज्य उन्हें सुप्रतिष्ठित होकर रहने की आवश्यकता ने ही नीति को जन्म दिया है। यूँ तो पशु भी समाजबद्ध रहता है किन्तु पशुओं में नीति नाम की चीज नहीं होती। नीतिमत्ता होना मानवसमाज की विशेषता है। राज्य संस्था में नीति पालन से ही समाज में नीतिव्यवस्था होती है। राज्यव्यवस्था से नीति के हटते ही सम्पूर्ण राज्य में दुर्नीति फैल जाती है। राज्यव्यवस्था के अनीतिपरायण होने पर समस्त समाज और भी अधिक अनीतिपरायण हो

जाता है। नीतिशब्द, दण्डनीति, रणनीति तथा अर्थनीति तीनों का ही वाचक है।

मनु, नारद, इन्द्र, बृहस्पति, भारद्वाज, विशालाक्ष, भीष्म, पराशर, विदुर आदि पूर्वाचार्यों द्वारा धर्म-अर्थ तथा काम तीनों को याथातथ्य बनाए रखने के लिए शास्त्र बनाए गए। इनके पश्चात् आचार्य विष्णुगुप्त ने इन सब पूर्वाचार्यों के विचारों का सार अपने 'अर्थशास्त्र' में निबद्ध किया और उसी का नाम 'कौटलीय अर्थशास्त्र' पड़ा।

राज्यतन्त्रेष्वायत्तौ तन्त्रावापौ 44

तन्त्र अर्थात् स्वराष्ट्र सम्बन्धी तथा आवाप अर्थात् परराष्ट्र सम्बन्धी कर्तव्य अपनी राष्ट्रव्यवस्था के ही आवश्यक अंग होते हैं।

स्वराष्ट्रविषयक तथा परराष्ट्र से व्यवहार विनिमय विषयक दोनों प्रकार के कर्तव्य राज्यतन्त्र में सम्मिलित होते हैं। परराष्ट्र चिन्ता के बिना राज्यतन्त्र अधूरा है। तन्त्र अर्थात् स्वराष्ट्र अर्थात् अपनी प्रजा के जीवन साधनों की रक्षा तथा आवाप अर्थात् पर-राष्ट्रचिन्ता या उससे व्यवहार विषयक बातें- दोनों ही बातें राज्यव्यवस्था की इतिकर्तव्यता में सम्मिलित होती हैं।

तन्त्रं स्वविषयकृत्येष्वायत्तम् 45

स्वराष्ट्र व्यवस्था तन्त्र कहा जाता है। वह केवल स्वराष्ट्र सम्बन्धी कर्तव्यों से सम्बद्ध रहती है। राज्यव्यवस्था स्वदेश सम्बन्धी कर्तव्य करते रहने से अपने आप ही आप व्यवस्थित होती चली जाती है। जहाँ राज्य अव्यवस्थित होता है, वहाँ राज्याधिकारियों की स्वदेश सम्बन्धी कर्तव्यों की अवहेलना ही उसका कारण होती है। उसी से राष्ट्र में अव्यवस्था फैलती है।

आवापो मण्डलनिविष्टः 46

आवाप अर्थात् परराष्ट्र विषयक कर्तव्य मण्डल अर्थात् पड़ौसी राष्ट्र से सम्बन्ध रखता है। शत्रुओं के कार्यों या उनकी गतिविधियों की देखभाल से सम्बन्धित मण्डल अपने समीपवर्ती राष्ट्रों पर निर्भर होता है।

यदि आस-पास की राजशक्तियाँ शत्रु की सहायता करती हैं और उन्हें कोई साम-दाम-दण्ड़-भेद नीति से रोकता नहीं तो शत्रु वैसे ही बढ़ता-फूलता-फैलता जाता है जैसे आलवाल में जलसिंचन से फैलने वाली फली जो सेचन से बढ़ने वाले वृक्ष के साथ-साथ बढ़ती है। इसलिए राजा लोग अपने मण्डल को शत्रुओं के प्रभाव या वश में न आने दें तथा उन्हें अपने सहायक बनाए रक्खें उसे अपने प्रभाव में बनाए रखें।

सन्धिविग्रहयोर्निमण्डलः 47

जिनके साथ सन्धि और विग्रह होते हैं ऐसे राज्य से जुड़े पड़ोसी राज्यमण्डल कहलाते हैं। सन्धि-विग्रह व्यवहार पड़ोसी राज्यों के साथ ही होता है। सन्धि का अर्थ सन्धान तथा विग्रह

का अर्थ विरुद्ध कर्म करना या विरोधी कर्म अपनाना। धनदानादि उपायों के द्वारा सम्बन्ध जोड़ना या मित्र बनाना सन्धि है। राजा लोग कुछ पदार्थ ले-देकर प्रतिज्ञा बद्ध होते हैं। यह 'सन्धि' कहलाती है, इसे 'पण' भी कहते हैं। 'पण' से होने वाली 'सन्धि' 'पणबन्ध' सन्धि कहलाती है। सोमदेव के शब्दों में 'पणबन्धः सन्धिः। अपराधो विग्रह' अर्थात् जब कोई राजा अपराध करता है, तब ही विग्रह खड़ा करता है। दूसरे राष्ट्र से दाह-लूटमार आदि भी विग्रह के ही रुप हैं।

सन्धि और विग्रह के बहुत से रुप हैं। प्रकट विग्रह, कूटविग्रह और मौन विग्रह भेद से तीन रुप बताए जाते हैं। कोई दुर्बल राजा, बली राजा को पणदान से जब तक सन्तुष्ट करता है तब तक दोनों की सन्धि रहती है। पड़ोसी राष्ट्र के साथ, समय की आवश्यकतानुसार तथा पड़ौसी राष्ट्रों के व्यवहार के अनुसार, सन्धि-विग्रह करते रहना, राज्य व्यवस्था का राष्ट्रीय कर्तव्य होता है। किसी से न तो सदा ही सन्धि रह सकती है और न सदा किसी से 'विग्रह' ही रहता है। किस समय कौन सी नीति की आवश्यकता है यह देखते रहना ही नीतिमत्ता है।

नीतिशास्त्रानुगो राजा 48

नीतिशास्त्र का अनुगामी होना ही राजा की योग्यता है।

हेतुशास्त्र, दण्डनीति और अर्थशास्त्र नीति शब्द से जाने जाते हैं। शासन व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाले शासक को इन सभी शास्त्रों का ज्ञान होना आवश्यक है। यदि राज्य अधिकारी राजशास्त्र से अपरिचित रह कर अपने कृत्यों से सामाजिक अनुशासन नहीं रख सकते तो अनिष्ट खड़े होंगे ही, यह सुनिश्चित है। राजा को नीति प्रोक्त नियमों से आत्मरक्षा तथा प्रजा पालन करना चाहिए। मनु के शब्दों में 'बहवोऽविनयाः नष्टाः राजानः'- बहुत से राजा अविनय या दुर्नीति से नष्ट हो चुके हैं। यहाँ नीति शब्द का अभिप्राय राजनीति से है।

मनुस्मृति के अनुसार राजनीति की तीन विधाएँ होती हैं- त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति। आचार्य बृहस्पति दो ही विधाएँ मानते हैं- वार्ता तथा दण्डनीति, जबकि शुक्राचार्य एक ही प्रकार की नीति-दण्डनीति को मानते हैं क्योंकि राज्य व्यवस्था का मुख्याधार दण्डनीति ही होती है। चाणक्य के अर्थशास्त्र में चार प्रकार की नीति बताई हैं- आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति।

साँख्य, योग तथा न्यायदर्शन आन्वीक्षिकी के मुख्य अंग हैं। आन्वीक्षिकी सभी कार्यों की साधक तथा सभी धर्मों की आश्रय मानी जाती है। इस विद्या से तर्क शक्ति, वाक् चातुर्य, बुद्धिमत्ता तथा कार्य कुशलता आदि गुण प्राप्त होते हैं।

ऋक्, साम और यजु- इन तीनों वेदों को 'त्रयी विद्या' कहा जाता है। अथर्ववेद, पुराण तथा षडाङ्ग वेद- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष् भी त्रयी विद्या के

अन्तर्गत आते हैं। इस विद्या से सामान्य धर्म तथा चार वर्णो व चार आश्रमों के विशेष धर्मों का बोध होता है। इससे राजव्यवस्था वैदिक मर्यादानुसार चलाने में सहायता मिलती है।

वार्ता सम्पत्ति शास्त्र के नाम से जाना जाता है। जिसे आधुनिक समय में Economics कहा जाता है। यह विद्या राज्यकी अर्थ व्यवस्था से सम्बन्धित होती है। जिस पर राज्य की भौतिक समृद्धि निर्भर करती है।

'दण्डनीति' पर सभी आचार्यो ने जोर दिया है। मनु-स्मृति में दण्डनीति को देवरुप बताया है जिसका रंग काला और लाल बताया है।

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्डः एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डः धर्मं विदुर्बुधाः॥

दण्ड प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है। जब सब सोते हैं तब दण्ड ही जागता रहता है। बुद्धिमानों ने दण्ड को ही धर्म कहा है। दण्डनीति अप्राप्त धन को प्राप्त कराती है और प्राप्त धन की रक्षा करती है तथा रक्षित धन की वृद्धि करती है। यदि दण्डनीति का प्रयोग न किया जाए तो बलवान् निर्बलों को सताते हैं। और 'मात्स्य न्याय' स्थापित हो जाता है अर्थात् जैसे बड़ी मछली छोटी-कमजोर मछली को खा जाती है वैसे ही बलवान् निर्बल को। सारी राजव्यवस्था दण्डनीति के अधीन ही होती है।

दण्डनीति का उचित प्रयोग ही समुचित है। सख्त दण्ड से प्रजा रुष्ट होती है और लघु-अल्प दण्ड से प्रजा उच्छृंखल हो जाती है। अतः दण्डनीति का सोच समझ कर प्रयोग करना चाहिए।

शत्रुः

अनन्तर प्रकृतिः शत्रुः 49

स्वदेश से जुड़े हुए (सटे हुए अव्यवहित देश) देश के राजा स्वभाव से शत्रु होते हैं। जिन से हर घड़ी सीमा संघर्ष आदि कलह होने की संभावना बनी रहती है वे परस्पर शत्रु बन जाते हैं अतः राज्याधिकारी लोग निकटवर्ती राज्यों से सदा सतर्क रहें उनकी स्वविरोधी गतिविधि देखते रहें।

अहिताचरण करने वालों की परस्पर शत्रुता हो जाती है। सामाजिक-सांसारिक जीवन स्नेह पूर्ण मधुर सम्बन्धों से चलता है, न कि दूसरों को दुःख पहुँचाकर, उनका सुख-चैन छीन कर। स्वार्थी प्रवृत्ति वाले पड़ोसी वैभव-सम्पन्नता से ईर्ष्या करने वाले शत्रु ही कहे-जाने जाते हैं। यदि पड़ौसी राजा एक दूसरे के हितैषी हों तो वे परस्पर सहायक होकर शक्तिमान् हो सकते हैं।

भारतीय राष्ट्रीयता का सदैव से यह आदर्श रहा है कि सदा अपने सीमावर्ती पड़ौसी राज्यों से शत्रुता न करके उसे भी अपने साथ जोड़कर-मिला कर रखें। जो राजा अपने पड़ौसी राज्य की सुख समृद्धि में बाधक बन कर सम्पदा का अपहरण करे वह पड़ौसी का शत्रु होने के साथ-साथ अपने राज्य का भी शत्रु है। अपने साम्राज्य विस्तार के लोभ में अनैतिक दुष्कर्मों से प्रजा भी असन्तोष के कारण विप्लवकारी हो जाती है। वस्तुतः ऐसा ही हुआ भारत के साथ भी। राज्याधिकार पाने वाले लोभियों ने भारत भूमि को दो भागों में बाँट कर राष्ट्र की प्रजाओं में जो अशान्ति पैदा कर डाली उससे भारत-पाकिस्तान आज तक उबर नहीं पाया है।

एकान्तरितं मित्रमिष्यते 50

किसी शत्रु से शत्रुता करने वाले अनेक राष्ट्रों का परस्पर मित्रता का बन्धन होना स्वाभाविक है।

हेतुतः शत्रुमित्रे भविष्यतः 51

शत्रु-मित्र अकारण न होकर, कारण वश हुआ करते हैं।

उपकार व सदाचार से मित्रता तथा अपकार व असदाचरण से शत्रुता हो जाती है। नित्यमित्र, सहजमित्र तथा कृत्रिम मित्र-तीन प्रकार के मित्र होते हैं। अकारण पाल्य-पालक

भाव से नित्यमित्र, कुलपरम्परा से चले आने वाले मित्र सहजमित्र तथा प्रयोजन से स्नेह करने वाले कृत्रिम मित्र होते हैं।

शत्रुमित्रपरिचय के निम्न कारण प्रत्यक्ष उपस्थित हो जाते हैं। जो मनुष्य मित्र की विपत्ति को अपनी विपत्ति मानकर दृढ़ता से उसका साथ देकर अपना कर्तव्य पूरा करता है, वही सच्चा मित्र है।

मित्र के हित में आत्मदान करने वाला मित्र ही सच्चा मित्र है। जो व्यक्ति कृत्रिम मित्र बनकर मित्र के अच्छे दिनों में तो उसका धनशोषण तथा अपना स्वार्थ पोषण करता है और मित्र के दुर्दिनों में आँखें फेर लेता है, पीठ पीछे मित्र की निन्दा करता है वह वास्तव में शत्रु ही है। तीसरी किस्म का, मित्रता जताकर स्वयं को विश्वासपात्र प्रमाणित करता है। लेकिन चुपचाप विश्वासघात करता है। स्वयं कभी कुछ न देकर धन शोषण करता है, सदा अपने द्वारा किए गए उपकारों के ही गीत गाता रहता है और अपने दु:खों का रोना रोता रहता है। अपने व्यवहार-सम्बन्ध की प्रधानता जताता रहता है कि मैंने अमुक-अमुक समय पर यह-यह उपकार किया। चुगलखोर को कभी मित्र न मानो। वे कभी बे-गरज की प्रीति नहीं करते।

हीयमानः सन्धिं कुर्वीत 52

निर्बल राजा का कल्याण इसी में है कि वह सदैव अधिक शक्तिशाली-सशक्त राजा से सन्धि बनाए रखे, आत्मरक्षा हेतु।

अपनी निर्बलताओं का पता शत्रु को न चलने दे और पूर्वत: ही सन्धि का प्रस्ताव रख कर आत्मरक्षा का प्रबन्ध करे। वह युद्ध स्थगित कर आत्मरक्षा करे। युद्ध करके शक्तिक्षय न करे। बुद्धिमान् राजा के लिए यह अभीष्ट नही है कि वह सन्धि के द्वारा बलवान्, दुष्कृत्य करने वाले राजा के हाथों बिक जाए या संग्राम कर पराजित होकर मिट जाए। इस दशा में बुद्धिमान् राजा का कर्तव्य है कि शत्रु से सामायिक सन्धि करके आत्मरक्षा करके शक्तिसंचय करने में जुटा रहे। यही उसकी सन्धि का उद्देश्य रहना चाहिए।

हीयमानेन न सन्धिं कुर्वीत 52 क

वर्धिष्णु नीतिमान् राजा का कल्याण इसी में हैं कि वह हीयमान व नीतिहीन शत्रु की दुरवस्था का पता चल जाने पर उसके सन्धि प्रस्ताव को स्वीकार न करे। नीतिमान् बलवान् राजा के लिए यह कदापि उचित न होगा कि वह अधार्मिक निर्बल शत्रु को रणक्षेत्र में खड़ा देख कर उसे छोड़ दे। उसकी मीठी बातों के चक्कर में न आकर उसके सन्धि प्रस्ताव को स्वीकार न करे और भविष्य में उसे और अधिक शक्ति संचय का अवसर न दे।

तेजो हि सन्धानहेतुस्तदर्थानाम् 53

दोनों की (कोष एवं दण्डज प्रताप की) तेजस्विता–प्रभावशालिता ही सन्धि का कारण होता है। कोष एवं दण्डज प्रताप को तेज कहते हैं। धन भण्डार को कोष कहते हैं तथा दमन व सेना ये दो दण्ड के भेद हैं।

अधिक्षेपावमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत्।
प्राणात्ययेऽप्रसहनं तत्तेजः समुदाहृतम्।।–भरत

दूसरे के द्वारा झिड़के जाने पर तथा अपमानित किए जाने को न सहना तथा इस असहनशीलता में प्राणेत्सर्ग तक करने को उद्यत–तत्पर हो जाना 'तेज' कहा जाता है।

'मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्'– चिरकाल तक धुएँ के साथ निष्प्रभ होकर पश्चात्ताप युक्त होकर सुलगते रहने की अपेक्षा ज्वाला युक्त होकर क्षणभर भी जी लेना अधिक शोभाजनक है।

जब विपक्षी अधिक तेज युक्त हो और उससे सन्धि करना आवश्यक प्रतीत हो तब अपने सम्मान को सुरक्षित रखकर, हीयमान होते हुए भी शत्रु को अपनी हीनता–दुरवस्था न दिखाकर, बन्दरघुडकी दिखाते हुए ही उससे सन्धि करे। सन्धि करने में अपने सम्मान व अस्तित्व को सुरक्षित रखना अपना विशेष कर्तव्य माने। यदि सम्मान सुरक्षित नहीं होगा तो वह सन्धि न होकर आत्मसमर्पण हो जायेगा अर्थात् सन्धि प्रस्ताव में अपने को मिटाकर सन्धि न करे। निर्विष होने पर भी फुंकार मारना न त्यागे, अपने तेज को अक्षुण्ण रखकर सन्धि करे।

नातप्तलोहो लोहेन सन्धीयते 54

जैसे बिना तपे लोहे की बिना तपे लोहे से सन्धि नहीं होती उसी प्रकार दोनों पक्षों में तेजस्विता न हो तो सन्धि नहीं होती।

दोनो पक्षों में से एक के प्रताप का अधिक होना अनिवार्य है, तो भी उनमें सन्धि होना तभी सम्भव है जब कि हीयमान्–क्षीण राजा अपने पौरुष को ढीला न छोड़ चुका होगा, नहीं तो वह अपना अस्तित्व ही खो बैठेगा। सन्धि तभी सम्भव है जब निस्तेज राजा भी शत्रु से सन्धि प्रस्ताव में अपनी तेजस्विता को अक्षुण्ण बनाए रखकर शत्रुपक्ष पर सन्धि का दबाव डाल रहा हो। शत्रु पक्ष भी अधिक बलवान् होने पर भी युद्ध के अनिष्टकारी प्रभाव से बचना चाहता है। ऐसी स्थिति में नीतिमान् धार्मिक राजा अधार्मिक शत्रु पर अपनी तेजस्विता के दबाव से अपनी निर्बलता को छिपाए रखकर सन्धि का प्रस्ताव करे। तब ही सफलमनोरथी होकर आत्मरक्षा कर सकता है।

'अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः' किरातार्जुनीयम्–1 सर्ग

जब मनुष्य अमर्षशून्य और पराभवसहिष्णु हो जाता है तो, न मित्र पक्ष उसका आदर

करता है और न शत्रु पक्ष। जैसे एक गरम लोहा दूसरे ठण्डे लोहे से जुड़ नही पाता और जुड़ने के लिए आवश्यक रुप में उष्ण होना ही चाहिए। उसी प्रकार दोनों में आवश्यक तेजस्विता होनी ही चाहिए तभी सन्धि सम्भव होती है।

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दन्तहीन-विषहीन-विनीत सरल हो।

गिड़गिड़ा कर सन्धि मांगने से तो वह उसका शिकार बनकर मार दिया जायेगा।

बलवान् हीनेन विगृह्णीयात्-55

बली राजा शत्रु को हीन पाकर ही उससे युद्ध न ठान कर उसे किसी अन्य उपाय से नष्ट करने का उपाय करे। 'बुद्धिः शक्तेः गरीयसी' बुद्धिबल शारीरिक बल से अधिक महत्त्व का होता है। कहा भी गया है-

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्ति राष्ट्रं सनायकम्॥

धनुर्धारी का मारा एक तीर अपने लक्ष्य को मार सके या न मार सके किन्तु बुद्धिमान् की प्रयुक्त बुद्धि नायक सहित राष्ट्र का ध्वंस कर सकती है। अशान्तिदमन और शान्ति स्थापना ही विग्रह का उद्देश्य होना चाहिए। शान्तिप्रिय निर्बल व्यक्ति से विग्रह करना कभी उचित नहीं है। हाँ यदि निर्बल दुष्ट हो तो उससे विग्रह करना आवश्यक होता है। विजय सुनिश्चित होने पर ही युद्ध करना चाहिए। सार रुप में, विग्रह सदैव अपने से निर्बल दुष्ट पर करना चाहिए। प्रौढ़ दुष्ट से तत्काल युद्ध न ठानकर उसे अचिरभविष्य में हरा देने योग्य आत्मबल संचय करने के लिए युद्ध को टालते रहना चाहिए ओर उससे जागरुक-सावधान रहना चाहिए।

सर्वप्रथम युद्ध का उद्देश्य अशान्ति कारक का दमन और शान्ति की स्थापना करना होना चाहिए। दूसरे अशान्ति उत्पादक शत्रु पर आक्रमण करने से पहले शत्रु की शक्ति का ठीक से पता लगा लें तभी युद्ध भूमि में उतरे। शत्रु को अपने से बलवान् जानकर भी रणभूमि में उसका आह्वान करके उससे पराजित हो जाने पर तो अशान्ति का ही साम्राज्य हो जाता। अतः अशान्ति मचाने-पैदा करने वाले बलवान् शत्रु से संग्राम न करे अपितु उससे अधिक शक्तिसंचय करके उसके दमन के लिए उससे विग्रह करे।

न ज्यायसा समेन वा 56

अधिक भौतिक बल वाले या समान बल वाले से भी विग्रह न छेड़े।

तात्कालिक युद्ध न करके स्वयं को शत्रुओं से अधिक शक्तिशाली बना कर या शत्रु को बलहीन बनाने के लिए समय बीतने का इन्तजार करे और उतने समय में शत्रुदमन का प्रबन्ध

करता रहे। यूँ तो युद्ध के बिना शत्रु का दमन सम्भव नहीं है तो युद्ध को अनिवार्य मानते हुए संग्राम के लिए सदा सन्नद्ध रहना चाहिए।

गजपादविग्रहमिव बलवद्विग्रहः 57

बलवान् से युद्ध करना तो गजसेना से पैदल सेना के हार जाने जैसा है। गजारुढ़ सैनिकों के सम्मुख पदाति सेना की जो दुर्गति होती है वही दुर्गति बलवान् शत्रु के सम्मुख निर्बल की हो जाती है। इस स्थिति में अशान्तिजनक आततायी का दमन करने के लिए उससे अधिक शक्ति शाली बनकर ही विग्रह करना ही उत्कृष्ट राजनीति है। इस सूत्र का भाव युद्ध विमुखता पैदा करना नहीं है अपितु सुनिश्चित विजय दिलाने वाली युद्ध सज्जा करने की प्रेरणा देना है।

आमपात्रमामेन सह विनश्यति 58

जैसे कच्चा पात्र कच्चे पात्र से टकराने पर दोनों ही टूट जाते हैं, इसी प्रकार समान शक्ति-वालों का युद्ध, दोनों का ही विनाशक होता है।

समान शक्ति वालों के युद्ध का परिणाम दोनों ही के लिए घातक होता है। इसलिए युद्ध के अतिरिक्त और कोई उपाय न शेष रहने पर ही युद्ध का मार्ग अपनाना चाहिए। संग्राम विमुखता भी उचित नहीं है क्योंकि युद्ध न करने का भी परिणाम विनाश ही दिखने लगे तो मरता क्या न करता, वाली कहावत चरितार्थ होती है तो वीरतापूर्वक युद्ध में जूझकर वीरगति प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है। जब ऐसा समय आ खड़ा हो तो प्रतिपक्षी के लिए यमराज बनकर छा जाना उचित होता है।

अतः शान्ति स्थापना के इच्छुक राजा को अशान्तिदमन के लिए कच्चे पात्र जैसे दुष्ट के लिए पक्के पात्र के समान मिटा डालने की शक्ति संचय करना ही उत्कृष्ट राजनीति है।

अरिप्रयत्नमभिसमीक्षेत 59

शत्रुओं के सभी प्रयत्नों-चेष्टाओं, उद्यमों, राज्यलाभों, परराष्ट्रों से सन्धियों आदि को अपने गुप्तचरों के द्वारा ठीक-ठीक जाने और आत्मरक्षा में पूरी सावधानी बरतें। विजिगीषु राजा सन्धि या विग्रह प्रत्येक अवस्था में शत्रु के प्रयत्नों पर पूरी दृष्टि रखे। उसे शत्रु के श्वास-प्रश्वास तक का ध्यान रखना होगा।

सन्धायैकतो वा 60

विजिगीषु राजा सन्धि या विग्रह दोनों अवस्थाओं में शत्रु के प्रयत्नों पर सुतीक्षण दृष्टि रखता रहे।

अरिविरोधादात्मरक्षामावसेत् 61

राजा अपने राष्ट्र को बाहरी तथा आभ्यान्तरिक शत्रु के लूट, दाह, अनीति आदि पापों से बचाता रहे।

शक्तिहीनो बलवन्तमाश्रयेत् 62

शान्ति स्थापना का इच्छुक राजा किसी धार्मिक–शक्तिशाली राजा को मित्र बना ले और उससे अपनी सुरक्षा–स्वतन्त्रता सुनिश्चित कर ले।

दुर्बलाश्रयो दु:खमावहति 63

दुर्बल–कायर पुरुष के साथ सम्मिलित होना दु:ख का कारण बन जाता है। अपनी शक्ति में विश्वास न रखने वाले,स्वतन्त्रता या अशान्ति दमन को अपना आदर्श न मानने वाले का आश्रय लेने वाला दु:खी होता है।

चाणक्य ने अर्थशास्त्र में अन्य राजाओं अथवा राज्य संस्थाओ से सम्बन्धित व्यावहारिक विषयों पर चर्चा की है। उनका मत था कि कोई भी सन्धि स्थायी नहीं होती। आवश्यकतानुसार कोई भी सन्धि की जा सकती है और बलसंचय–शक्तिशाली हो जाने पर तोड़ी भी जा सकती है। सन्धि हमेशा लाभ के लिए ही की जाती है।

सन्धि तोड़ने पर हस्ताक्षर करना।

जब चाणक्य ने सीमाओं के कुछ युद्ध जीत लिए और मौर्य वंश को स्थापित किया, पर्वत राजा का राज्य Planning Strategic Point पर प्रगतिशील था। एक बार तो उसने (चाणक्य ने) उस पर आक्रमण करने की सोची लेकिन छोटे से राज्य पर आक्रमण करने का उसका उद्देश्य नहीं था लेकिन घनानन्द के हाथों से मगध का राज्य छीनना चाहता था। उसने राजा पर्वतराज की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक दशाओं की जानकारी एकत्रित करनी आरम्भ कर दी और फिर उससे एक मीटिंग निश्चित कर ली।

वह चाणक्य, चन्द्रगुप्त और सेनापति भद्रभट्ट सहित उस पर्वतराज से मिला। चाणक्य ने अपनी स्थिति–परिस्थिति और कुछ प्रस्ताव सम्मुख रखे। पर्वतराज ने निर्णय से पहले इस प्रस्ताव पर अच्छी तरह से विचार किया तब उसकी सहमति से सन्धि पर परस्पर मदद–सहयोग के लिए हस्ताक्षर किए और परस्पर एक–दूसरे पर आक्रमण न करने की रजामन्दी पर भी। और यह भी सहमति हुई की सेना भी बेरोक–टोक उसके राज्य में घूमेगी।

कुछ वर्ष व्यतीत होने पर मौर्यवंश स्थापित किया गया। अनेक छोटे राज्य उनकी स्वेच्छा से अथवा आक्रमण करके अपने नये साम्राज्य में सम्मिलित किए गए। चाणक्य को पर्वतराज की उपस्थिति खटक रही थी क्योंकि वह राज्यप्रमुखता पाए हुए था। अत: चाणक्य ने उसके राज्य को हथियाने की सोची। चाणक्य ने संधि भंग कर दी। इस बहाने से कि पर्वतराज की बड़ी मांगे हैं।। फिर चाणक्य ने छ: महीने प्रतीक्षा की। वह राजा की कमजोरियाँ जानता था और उसके अनुसार उसने जाल बिछाया। राजा इस बिना लिखे अलिखित आक्रमण की सूचना को समझ नहीं पाया। अत: छ: महीने बाद जब मौर्य सेना ने आक्रमण किया तो वह हैरान

हो गया और उसने बिना तैयारी के ही युद्ध किया और हार गया और उसका राज्य चन्द्रगुप्त ने अपने राज्य में मिला लिया।

अग्निवद्राजानमाश्रयेत् 64

किसी राजा से सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक हो जाने पर, उसकी ओर से अग्नि के समान, उसे अपनी हानि न करने देने के सम्बन्ध में पूरा सावधान रह कर व्यवहार करे। राजा से इतना निकट का सम्बन्ध न रखें कि वह अपनी दाहात्मक शक्ति से आश्रित का शोषण करने लगे। यूँ तो अग्नि की दाहक शक्ति सदुपयोगी है। इसी प्रकार बली राजा का आश्रय लिए बिना जीवन धारण करना दूभर है लेकिन अपनी शान्ति और स्वतन्त्रता न खो बैठे इसके लिए सावधान रहना आवश्यक है।

राज्ञः प्रतिकूलं नाचरेत् 65

राजद्रोह न करे। राजा के प्रतिकूल आचरण न करे। राष्ट्र की सम्मति से सिंहासनारुढ़ राजा से द्रोह राष्ट्रद्रोह होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या राजा के अनीतिपरायण होने पर भी उनकी अनुकूलता करे! अनीति परायण राजा की अनुकूलता करना चाणक्य जैसे कूटनीतिज्ञ को भला कैसे मान्य हो सकता है? राजा वास्तव में राष्ट्र का प्रतिनिधि एवं प्रतिबिम्ब होता है। जैसा राष्ट्र होता है वैसा ही उसका राजा होता है, जैसे बिम्ब को सुधारे बिना प्रतिबिम्ब को सुधारना असम्भव है।

प्रजा की समुचित देखभाल के लिए राज्यसंस्था का होना आवश्यक है। राज्य के विवेकी लोग ही राज्य संस्था के सहायक बन कर रहें और उस का द्रोह न करें यही सूत्र का तात्पर्य होगा। जहाँ तक संभव हो वहाँ तक राजा को नीति परायण रखें लेकिन उससे द्रोह न करें। राज्य संस्था को सुधार कर रखना प्रजा का कर्तव्य है वहाँ अराजकता फैलाना प्रजा के लिए कल्याण कारी नहीं। नीतिवाक्यामृत के शब्दों में– 'अस्वामिका प्रकृतयः समृद्धा अपि निस्तरितुं न शक्नुयुः'– समृद्ध भी राजहीन प्रजाएँ निर्विघ्न यात्राएँ नहीं कर सकतीं। इसलिए राज्यसंस्था का द्रोह न करके जहाँ तक सम्भव हो उसका सहायक बन कर रहें। सांकेतिक रुप में यह अभिप्राय लिया जा सकता है कि दूषित राज्य संस्था को भी नष्ट न करके उसे भी सुधारने का ही प्रयत्न करना चाहिए। राज्य संस्था का सकलोच्छेद तो अन्तिम उपाय होगा। लेकिन अराजकता को उत्तेजना देना तो अकल्पित अनेकानेक विपत्तियों और विनाश का सामना करने वाली बात होगी। भारत अपने विभाजन के दिनों में भी अराजकता का भयंकर रुप देख चुका है।

द्वयोरपीर्ष्यतोः द्वैधीभावं कुर्वीत-68

अपने राज्यैश्वर्य से ईर्ष्या करने वाले, विरोध प्रदर्शन के लिए सम्मिलित होने वाले माण्डलिक राजाओं या दो व्यक्तियों में ही अपने कूट प्रयोगों से पारस्परिक द्वेष पैदा करके उन ईर्ष्यालुओं की महत्वाकांक्षाओं को पददलित करके अस्तित्व को विलुप्त कर दें।

राज्यविरोधी संगठनों के सम्बन्ध में सतर्कता के लिए तथा दो व्यक्तियों को भी विरोधी दल बनाकर संगठित होने का अवसर न दें।

न व्यसनपरस्य कार्यावाप्तिः 69

व्यसनासक्त होने से सफल कर्म नहीं हो पाता क्योंकि व्यसनासक्त का कर्म उत्साह, दृढ़ता, संकल्प तथा आत्मविश्वास से हीन होता है इसलिए कर्म निष्प्राण होते हैं। राजा की राजकार्यों में निष्ठा तभी हो सकती है जब प्रजारंजन को ही अपना कर्तव्य मान ले। राजधर्म पालन से बड़ा कर्तव्य पालन राजा के लिए और कुछ भी नहीं है।

व्यसनी राजा स्वयं तो नष्ट होता ही है अपने साथ राष्ट्र को भी नष्ट कर डालता है। व्यसनहीन शासक-राजा ही उचित कर्मफल वाले होते हैं। व्यसन शब्द का अर्थ गिरावट-भ्रष्ट होता है। समय या धन की बर्बादी के काम व्यसन कहलाते हैं। मनुस्मृति में राजा के 10 कामज व 8 कोपज व्यसन गिनाएँ हैं। 1. आखेट 2. जुआ (शतरंज, ताश, जुआ, लाटरी, घुड़दौड, सट्टा आदि) 3. दिन में सोना-सर्वकार्य विनाशक, 4. परनिन्दा 5. व्यभिचार 6. मद्यपान जनित मद 7. नृत्य 8. गीत 9. वादित्र 10. व्यर्थभ्रमण- Tourism.

कोपज आठ व्यसन हैं 1. मिथ्या दोषारोपण 2. मिथ्याप्रतिष्ठा के दुराग्रह से किसी सच्ची बात को झुठलाना 3. निरपराधी से व्यक्तिगत द्वेष 4. परश्री कातरता-दूसरे के धन व गुणों से द्वेष करना 5. परगुण दोषोद्भावन 6. परधनापहरण तथा पराए धन का अप्रत्यावर्तन 7. दुर्वचन 8. ताडनादि

इन्द्रियवशवर्ती चतुरङ्गवानपि विनश्यति- 70

इन्द्रियों का वशवर्ती असंयतेन्द्रिय राजा समस्त प्रकार की सेनाओं से युक्त होने पर भी नष्ट हो जाता है। इन्द्रियासक्त की कर्म शक्ति, बल व समय भोग-विलासादि इन्द्रियतृप्ति में ही नष्ट हो जाता है। सञ्चित शक्ति, समय व धन का अपव्यय हो जाने से महत्वपूर्ण कर्म अधूरे ही पड़े रह जाते हैं और असफलता ही उनके मस्तक की भाग्य रेखा बन जाती है।

पाठान्तर पंक्ति है-इन्द्रियवशवर्तिनो नास्ति कार्यावाप्तिः

इन्द्रियाधीन का कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। पांच ज्ञानेन्द्रियाँ व पांच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन प्रत्येक क्षण अज्ञानी मनुष्य को नचा-नचा कर भोगों की मृग मरीचिका के पीछे दौड़ा-दौड़ा कर पूर्णतः शिथिल कर देते हैं, कर्तव्य कर्म पड़े ही रह जाते हैं।

जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः, जितेषु ननुलोकोऽयं तेषु कृत्स्नस्त्वयाजितः।
परवानर्थसंसिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रपः, अविधेयोन्द्रियः पुसां गौरिवेति विधेयताम्॥

तुम अपने ही देह में रहने वाले चक्षुरादि इन्द्रियादि घरेलु दुर्जय शत्रुओं को विजित बना कर रखो। यदि तुम उन्हें जीतकर रखोगे तो निश्चय जानो कि तुम विश्व विजयी बन जाओगे। अवशेन्द्रिय मानव स्वार्थ साधने में पराधीन, नीचवृत्ति, निर्लज्ज होकर पशुओं के समान दूसरों की अधीनता में आ जाता है।

यह विचारणीय है कि जो व्यक्ति इन्द्रियों को ही वश में नहीं रख सकता वह अपनी चतुरंग सेना पर काबू कैसे रखेगा। इन्द्रियासक्त मन काम-क्रोध आदि रिपुओं के आक्रमण से पतित हो जायेगा तथा बाहरी शत्रुओं का मुकाबला करने में वह और उसकी सेना असमर्थ होगी और राष्ट्र-देश का पतन हो जायेगा।

धर्मः

सुखस्य मूलं धर्मः– धर्म (मानवोचित कर्त्तव्य) पालन सुख का मूल है। धर्म जगत् को धारण करने वाली नीतिमत्ता है। मनुष्य सुखप्राप्ति के लिये जीवन भर यत्न करता है। सुख प्राप्ति का उपाय धर्मपालन बताया है। मनुष्य की पशु से उत्कृष्टता धर्मपालन से ही होती है अन्यथा तो आहार–निद्रा–भय–मैथुन तो पशुवत् मनुष्य में भी हैं–

आहार–निद्रा–भय–मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

धरा पर धर्म की हानि, अधर्म की बढ़ोत्तरी होने से धर्म संस्थापन के लिए भगवान् अवतार लेते हैं–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

किसी तेजस्वी पुरुष के रुप में भगवान् समाज की बिगड़ी व्यवस्था को सुधारने के लिए अवतार लेते हैं।

धर्म शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है–

धृतिक्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

उपरोक्त सभी दस लक्षणों से युक्त व्यक्ति धर्मपरायण माना–समझा जाता है और इन्हीं गुणों से युक्त व्यक्तियों से युक्त धरा होने से पृथिवी पर सुख होता है।

कणाद् ने वैशेषिक दर्शन में धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है–

यतो अभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः

अर्थात् जिससे जीवन में अभ्युदय–उन्नति और भावी जीवन में मोक्ष की सिद्धि हो वह धर्म है, अर्थात् भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति जिससे हो वह धर्म है। अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति धर्मानुसार आचरण से होती है।

धर्म के अनेक लक्षणों में अहिंसा को धर्म का प्रमुख लक्षण बताया है **'अहिंसा लक्षणो धर्मः–561'** अहिंसा यूँ तो प्रमुखतः शारीरिक व्यापार कार्य मानते हुए जैन एवं बौद्ध

धर्मानुयायी शारीरिक वध का निषेध करते है लेकिन वैदिक–याज्ञिक याज्ञबलि को बुरा नहीं मानते और कहते हैं **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'**। शारीरिक वध के अतिरिक्त मानसिक–वाचिक दुर्व्यवहार भी हिंसा ही माना जाता है। वस्तुतः अहिंसा का सम्बन्ध मनुष्य के सभी व्यवहारों से है। वास्तव में हिंसा मानव मन के उन सभी दुर्भावों से है जो उसकी आत्मा पर बुरा प्रभाव ड़ालते हैं। जैन आगमों में पाँच महाव्रतों में अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया गया है। जैन ग्रन्थ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में हिंसा–अहिंसा की निम्न परिभाषा दी गई है–

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

अर्थात् मन में राग–द्वेष आदि भावों का प्रकट नही होना अहिंसा है और इन भावों की उत्पत्ति ही हिंसा है।

सुविचारों को मन में रखना और उन पर अमल करना ही सुधर्म पालन करना तथा उससे सुख प्राप्ति एवं स्वर्ग प्राप्ति है। इसके अतिरिक्त धर्म का विभिन्न मत–मतान्तरों से विचार लेने पर स्वधर्म पालन परधर्म से बेहतर, बताया गया है–

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' जैसा कि हकीकत राय और वीरबन्दा वैरागी गुरुगोविन्द सिंह व गुरु तेग बहादुर अपने पुत्रों सहित धर्म के नाम पर कुर्बान हो गए। वे धर्म के नाम पर मर कर भी अमर हो गए।

धर्म उन शाश्वत गुणों का नाम है जिनको धारण करने से मनुष्य स्वयं को सुखी बना कर उन्नति, समृद्धि, शान्ति, सुख–चैन को प्राप्त करता है तथा अन्य प्राणियों को भी सुखी बनाता है जैसे सत्य बोलना, सद्व्यवहार करना, धैर्य, सहन शीलता, किसी से ईर्ष्या–द्वेष न करना, घृणा न करना, परोपकार करना, अपने काम को इस प्रकार करना जिससे दूसरे को सुख पहुँचे। ये सभी गुण पूर्ण रुप से वैदिक धर्म में मिलते हैं।

महाभारत में युधिष्ठिर बताते हैं कि धर्म क्या चीज है– मेरे अनुजों! मैं भी वैसे ही दुःखी हूँ जैसे आप सब। पर यह युद्ध हम यदि नहीं लड़ते तो वह ग्लानि का जीवन हमें कहीं–अधिक पीड़ा देने वाला होगा। धर्म की रक्षा के लिए कोई भी मूल्य बहुत बड़ा नहीं होता।

प्रत्येक मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव एक दूसरे से अलग–अलग होते हैं और यही कारण है कि जब से दुनिया बनी है तब से आज तक अच्छे लोगों के साथ बुरे लोग भी विद्यमान रहते हैं और आगे भविष्य में भी रहेंगे।

धर्म हमें सही कर्म करने की जानकारी देता है। मनुष्य जब धर्म के नियमों का पालन करता हुआ अपना जीवन यापन करता है तभी यह कहा जा सकता है कि वह अपने धर्म

की रक्षा कर रहा है। इसी प्रकार जब मनुष्य स्वार्थ के वशीभूत होकर धर्म की अवहेलना करता है तो ऐसे में धर्म उसकी रक्षा नहीं करता। धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति की हर परिस्थिति में धर्म रक्षा करता है- **'धर्मो रक्षति रक्षितः'।**

यदि प्रश्न करें कि धर्म क्या है? धर्म कोई बाहरी चिह्न, कर्मकाण्ड, भाषा व आडम्बर नहीं है और धर्म का किसी स्थान विशेष से सम्बन्ध नहीं है बल्कि कुछ शाश्वत गुणों का नाम है जिनका पालन करने से मनुष्य अपना और अपने साथ रहने वालों का जीवन सुखी बनाता है।

धर्म कोई दिखावा, रुढ़ि, प्रदर्शन नही। धर्म एक ऐसा अनुष्ठान है जिससे आत्मा का शुद्धिकरण होता है। अच्छी आदतों-गुणों का योग हो वह धर्म है।

महाभारत में कथन है कि धारण किए जाने से धर्म है। मानव धर्म से बढ़कर संसार में कोई धर्म नहीं है। अतः सबसे पहले आवश्यक है कि हम मनुष्य बनें 'मनुर्भव'। वैशेषिक दर्शन के अनुसार- जिससे इस संसार में भोग और मृत्यूपरान्त मोक्ष की सिद्धि हो वह धर्म है अर्थात् जिससे इहलोक और परलोक सुधरता हो वह धर्म है।

पक्षपात रहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्याग ही आचरण योग्य है, उसी का नाम 'धर्म' है और इससे विपरीत अधर्म है। 'सत्यार्थ प्रकाश' में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अत्यन्त सरल शब्दों में बताया है कि धर्म वह है जिसमें परस्पर विरोध न हो अर्थात् धर्म सार्वभौम है। जिसका किसी विशेष देश, जाति, काल से सम्बन्ध नहीं होता, जो ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपातरहित न्याय, सर्वहित करता है, जो सब मनुष्यों के मानने योग्य हो वह धर्म कहलाता है।

'व्यवहार भानु' में 'महर्षि दयानन्द' के अनुसार जैसा हमारी आत्मा को अच्छा लगे या व्यवहार आप अपने लिए दूसरों से चाहते हैं वैसा ही व्यवहार आप भी दूसरों से करें। ऐसा व्यवहार कदापि न करें जैसा व्यवहार आप नहीं चाहते कि दूसरे आप के साथ कभी करें। बस यह धर्म है। अधर्म करोगे तो अधर्म ही पाओगे और अच्छा करोगे तो अच्छा ही पाओगे।

धर्म का अनेक बार अर्थ मजहब (Religion) के रुप में समझा जाता है। धर्म और मजहब के अर्थ में जमीन-आसमान का अन्तर है। धर्म का अर्थ है उचित आचरण-व्यवहार। जिसका पालन विभिन्न मजहब-सम्प्रदायों के द्वारा किया जाता है। मजहब का अर्थ है भगवान् की पूजा का तरीका जो विभिन्न मजहब सम्प्रदायों के द्वारा अनुसरण किया जाता है। व्यक्ति का अपने मजहब का अनुसरण करने का हक राजधर्म के रुप में जाना-माना जाता है जैसा कि नारद स्मृति में धर्म मोक्ष P 870 में बताया गया है-

पाषण्डनैगमश्रेणीपूगव्रातगणादिषु।
संरक्षेत्समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा।।

राजा को देखभाल–सुरक्षा करनी चाहिए वेद–नैगमों का अनुसरण–पालन करने वालों की तथा साथ ही उसकी भी जो विश्वास–अनुसरण पालन नहीं भी करते हैं।

भारत में जहाँ वेदों को प्रमुख माना जाता था वहाँ वेदों में आस्था–विश्वास रखने वाले की भी सुरक्षा की जाती थी, जिसे राजधर्म सुरक्षा माना जाता था (प्राचीन भारतीय विधान–कानून) में धर्म को Secularism Par excellence कहा जाता था और संविधान का मूल तत्व माना जाता था। अतः राज्य धर्म भारत की वैधानिक भाषा में अर्थ था, संविधान का कानून, न कि धर्म का नियम। जैसे प्रकाश में अन्धकार नहीं ठहर सकता उसी प्रकार Fundamentalism नहीं ठहर सकता धर्म के आगे।

नास्ति धर्मसमः सखा– 233

संसार में मनुष्य का धर्म–अपने मानवोचित कर्तव्य पालन के समान कोई सखा–सहायक नहीं है। मानवोचित कर्तव्य पालन ही मनुष्य को पग पग पर आत्मसन्तोष–शान्ति देता है। कर्तव्य पालन से मनुष्य के हृदय में जीवन साफल्य की अनुभूति होती है। जीवन यात्रा के पग पग पर विजयी होने का हर्ष–प्राफुल्य होता है–

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥

मनुष्य के मरने पर भी धर्म नहीं मरता। शेष सभी कुछ शरीर के साथ नष्ट हो जाता है।

महाभारत में बताया गया है कि जगत् को मर्यादा में रखने का हेतु धर्म है अतः मनुष्य धर्मानुकूल आचरण करे। वह क्षुद्र मनुष्य के समान मर्यादा भंग न करे–

धारणाद् धर्म इत्याहुः न लोकचरितं चरेत्–महाभारत।

धर्म का महत्व– धर्मेण धार्यते लोकः– 234

लोकधारक सत्य रुपी मानव धर्म ही मानव समाज का संरक्षक है। श्रेष्ठ कर्म करना तथा अश्रेष्ठ से बचना ये दो संसार में धर्म के आधारस्तम्भ हैं। धार्मिक मनुष्य को कर्तव्य कर्म करने होते हैं और अकर्तव्य कर्म त्यागने होते हैं– **धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा– वेद**

प्रवृत्ति–निवृत्ति रुप धर्म ही संपूर्ण मानव जगत् का आधार है।

प्रेतमपि धर्माधर्मावनुगच्छतः– 235

देही के धर्माधर्म, देह का अन्त हो जाने पर भी उसके पीछे–पीछे चलते रहते हैं। धार्मिक लोग मानव समाज के शाश्वत संरक्षक होते हैं। भले ही मानव देह संसार से चला जाता है तो भी देही तो निरन्तर–चिरस्थायी–अविनाशी है। धर्म त्यागी मानव का पाप उसके देह के नष्ट हो जाने पर दिन–रात उसे अधः पतित कहता रहता है।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्मः।

जिससे मानव का सांसारिक–ऐहिक अभ्युदय हो और साथ में उसका कल्याण भी सिद्ध हो यह धर्म के दो उत्तरदायित्व हैं। वह मनुष्य को श्री सम्पन्न भी बनाए और उसकी मानवता को भी निखारता चला जाए। जिस धर्म से ये दोनों शर्त पूरी नहीं होती वह केवल धर्माभास है।

धृतिक्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

धीरज, क्षमा, अनुत्तेजना, चोरी न करना, मानसिक पवित्रता, इन्द्रियों को वश में रखना, आत्मबोध, विद्या–ज्ञान, सत्य तथा अक्रोध ये दस लक्षण मनु ने धर्म के कहे हैं। इन्ही से संसार में शान्ति रहना सम्भव है।

दया से ही धर्मनिष्ठा पैदा होती है–

दया धर्मस्य जन्मभूमिः–236

परदुःख कातरता या सहानुभति रुपी दया से धर्मनिष्ठा पैदा होती है। दया ही ऐहिक अभ्युदय और मानस उत्कर्ष पैदा करने वाली धर्म की जन्मभूमि है। दया रुपी जन्मभूमि न हो तो धर्मोत्पत्ति असंभव है। मैत्री– करुणा–मुदिता–उपेक्षा रुप चार प्रकार से दया की अभिव्यक्ति होती है। पुण्यात्माओं से मैत्री, दुःखियों पर करुणा, सुखियों को देख कर मुदिता, पापियों के प्रति घृणा से उपेक्षाभाव की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार निर्मल चित्त में ही दया होती है। दयालु चित्त में ही कर्तव्य पालन की भावना होती है। सत्यरक्षा ही मनुष्य का स्वधर्म है। सत्य से प्रेम ही दया है। सत्य ही मनुष्य का सच्चा स्वरुप है।

यत्नादपि परक्लेशं हर्तुं या हृदि जायते।

इच्छाभूमि सुरश्रेष्ठ सा दया परिकीर्तिता॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! मानवहृदय में यत्न करके भी परक्लेशहरण की जो इच्छा पैदा होती है वही दया कहलाती है।

कृपा दयानुकम्पा च करुणानुग्रहस्तथा।

हितेच्छा दुःखहानीच्छा सा दया कथ्यते बुधैः॥

कृपा, दया, अनुकम्पा, करुणा, अनुग्रह, हितेच्छा, दुःखहानि की इच्छा को बुद्धिमान् लोग दया नाम से पुकारते हैं।

अपहृत्यार्तिमार्तानां सुखं यदुपजायते।

तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

दुःखियों का दुःख हटा कर जो सुख उत्पन्न करता है, स्वर्ग या अपवर्ग मोक्ष के सुख उस सुख के 16 वें भाग की भी समता नहीं कर सकते।

धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत्सेवेत मेधावी न हि तद्धितमुच्यते॥

महाफलदायी या लाभकारी होने वाला यदि कोई अधर्म युक्त कर्म हो तो भी बुद्धिमान् उस कर्म को न करे, इसमें ही उसका हित है।

तुलसीदास जी ने भी दया को धर्म का मूल कहा है और जीवन पर्यन्त इस सिद्धान्त का पालन करना चाहिए–

दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाडिए जब लग घट में प्राण॥

धर्ममूले सत्यदाने–237

धर्म ही सत्य और दान का जनक है। समाज में मनुष्यता को सुरक्षित रखना ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है। सत्य इसी धर्म के पालन से सुरक्षित रहता है तथा दान इसी धर्म के पालन से सार्थक होता है। कर्तव्य पालन का सन्तोष तभी होता है जब वह समाज के लिए कल्याणकारी होने की शर्त पूरी करता हो। यदि वह कर्म समाज कल्याण नहीं करेगा तो वह असत्य ही कहा जायेगा। दान यदि मनुष्यता की सुरक्षा दृष्टि से समर्पित किया हुआ नहीं होगा तो वह कुदान ही कहलायेगा।

यज्ञ, अध्ययन, दान, धैर्य, सत्य, तप, क्षमा, और निर्लोभता ये धर्म के अष्टविध मार्ग बताए गए हैं–

इज्याध्ययनदानानि धृतिः सत्यं तपः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधःस्मृतः॥

समाज में मनुष्यता की रक्षा रुपी धर्म के मुख्य उद्देश्य के उपेक्षित होने पर धर्म के नाम पर जो कुछ भी किया जाता है वह सब असत्य का ही रुप है। मनुष्यता की रक्षा रुपी कर्तव्य पालन ही विश्वविजय का साधन है।

धर्मेण जयति लोकान्–238

धर्म रक्षा मानव को विश्व विजयी बना देती है।

समाज में मनुष्यता के संरक्षक धार्मिकों की जो प्रतिष्ठा और कीर्ति होती है वह उन्हें विश्वविजयी बना देती है। असत्य का दमन ही उनकी विश्व विजय है।

सब लोग विश्व भर की मनुष्यता के प्रतिनिधि ज्ञानियों का विश्वास- आदर करते हैं। यही तो उनकी विश्वविजय है। वे सैन्य समान्तों से विजय न करके वे इन्द्रिय विजय या असत्य दमन के द्वारा ही विश्वविजेता बन जाते हैं।

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।

धर्म अर्थात् मानवोचित कर्तव्यपालन से मनुष्य की उर्ध्वगति अर्थात् विश्वविजय होती है और अधर्म से अधोगति।

कर्तव्यनिष्ठ मौत से भी नही मरता–

मृत्युरपि धर्मिष्ठं रक्षति–239

सर्वसंहारी मृत्यु भी धार्मिक को इस संसार से मिटा नहीं पाती। धर्मिष्ठ के नश्वर देह का अन्त हो जाने पर भी उसका स्वरुप उज्ज्वल–अविनाशी बना रहता है और मानव समाज के लिए अनन्तकाल तक मार्ग दर्शन करता रहता है। लेकिन धर्मद्वेषी पाप जहाँ प्रबल हो जाता है वहाँ धर्म का महा अपमान होने लगता है–

धर्माद्विपरीतं पापं यत्र प्रसज्यते तत्र धर्मावमतिःमहती प्रसज्येत् –240

धर्म अर्थात् मानवोचित कर्तव्य पालन से विपरीत कर्तव्य हीनता ही पाप है। समाज में मनुष्यता के संरक्षक मानव धर्म को न अपना कर उससे विपरीत आचरण करने लगना ही पाप है। मनुष्य जिस किसी भले–बुरे काम में लग जाता है उस पर उसी कर्म को करने की अटल छाप पड़ जाती है और उसी कार्य सम्पादन में उसे नैपुण्य प्राप्त हो जाता है।

व्यवहारानुलोमो धर्मः–541

धर्म को व्यवहार में आने योग्य होना चाहिए।

धर्म को दैनिक व्यवहार–उपयोग में आने योग्य होना चाहिए। धर्म व्यक्ति का सहायक–सुधारक–मार्गदर्शक रुप में होना चाहिए। धर्म व्यावहारिक जीवन का अभिन्न अंग होना चाहिए।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः

अपने धर्म पालन से व्यक्ति गौरवान्वित होता है जैसे वीर वन्दावैरागी व हकीकतराय मुसलिम धर्म के मानने–अपनाने को बाध्य किए जाने पर झुके नही डटे रहे। गुरु गोविन्द सिंह व गुरुतेग बहादुर सिंह के बेटे मुगल शासकों द्वारा जिन्दा दिवार में चिनवा दिए गए लेकिन फिर भी मुगल शासकों की धमकी से विचलित न हुए। इसी प्रकार आर्य समाज सुधारक स्वामी श्रद्धानन्द विचलित नही हुए।

धर्म लोकेच्छा का बनाया हुआ नही होता अपितु धर्म का काम तो लोकेच्छा पर नियन्त्रण रखना है तथा उसे सत्याभिमुख करके प्रवाहित करना है। मनुष्य लोकेच्छा के अनुसार न चले, सत्याभिमुख होकर चले। मनुष्य का मन कुमार्ग से रुके और सत्याभिमुख होकर धर्म पर चले और समाज में शान्ति–सुव्यवस्था रहे। जिस धर्म को व्यवहार में लाना सम्भव न हो सके वह अव्यवहार्य धर्म माननीय नही हो सकता। व्यवहार को सन्मार्ग पर रखना ही तो धर्म है। सत्यनिष्ठा ही सन्मार्ग है।

महाभारत में धर्म के संशोधित रुप में इस प्रकार विचार किया गया है- धारणाद् धर्म इत्याहुर्न लोकचरितं चरेत्।

सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रुप देकर धारण करने वाला ही धर्म है। मनुष्य गतानुगतिक होकर, स्वार्थी जीवन अपनाकर अधर्म न करे। स्वार्थ समाजघाती व्याधि होने से अधर्म है। मुनष्य को समाज में शान्ति तथा सुव्यवस्था रखने वाले तथा मन को कुमार्ग से रोक रखने वाले आचरण करने चाहिए।

सर्वज्ञता लोकज्ञता-542

अपनी सुतीक्ष्ण बुद्धि से लोकचरित्र को समझना ही ज्ञान या सर्वज्ञता है।

लोक चरित्र के विषय में किसी भ्रान्ति में न रहना सर्वज्ञता है। किसी से धोका न खाना, किसी अविश्वसनीय को विश्वास के योग्य न मानना यही मनुष्य बुद्धि की जीवन विषयक सर्वज्ञता है। लोगों के व्यवहार को सत्य की कसौटी पर परखने लगना, दुष्टों के दुष्प्रभाव से बचे रहना, तथा श्रेष्ठों के सुप्रभाव से लाभ उठाना ही लोक चरित्र के विषय में ज्ञान पाने की कुशलता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति स्वयं ही एक कसौटी होता है। वह स्वयं ही लोक-चरित्र की सत्यासत्य परीक्षा करने की कसौटी बनकर रहता है। वह स्वयं ही सत्य का स्वरुप जानकर सर्वज्ञ बन जाता है और संसार को उसी कसौटी पर परखा करता है। ज्ञान ही अज्ञान से मुक्त रहने या रखने वाली सर्वज्ञता है।

शास्त्रज्ञोऽप्यलोकज्ञो मूर्खतुल्यः- 543

लोक चरित्र को न समझने वाला शास्त्र का ज्ञान रखने वाला भी मानव मूर्ख ही रहता है।

ज्ञान, शास्त्रों से- ग्रन्थों से प्राप्त करने की वस्तु नहीं है। व्यावहारिक ज्ञान तो सत्यनिष्ठ बन कर अपने ही अनुभव के आधार पर प्राप्त होता है। लोकज्ञ बन जाना ही ज्ञानी बन जाना है। लोकज्ञता को ही प्रयोजनीय तथा प्रधान बताना ही इस सूत्र का मुख्य उद्देश्य है। व्यवहार में लोकज्ञता का महत्वपूर्ण स्थान है।

शास्त्र पढ़कर भी जो लोक व्यवहार को नहीं जानता वह मूर्ख के समान होता है इसी बात को चाणक्य नीति में भी दोहराया गया है-

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥

जिसके पास अपनी बुद्धि नहीं हैं उसका शास्त्र क्या कर सकता है। अन्धे के लिए दर्पण का कोई प्रयोजन नहीं।

शास्त्र को पढ़ने वाले का पुस्तकीय ज्ञान तभी सार्थक होता है जब उसके साथ लोकव्यवहार का भी ज्ञान हो। विद्यालयों-महाविद्यालयों-विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली विद्या के विषय में भी यही कहा जा सकता है।

शास्त्र प्रयोजनं तत्वदर्शनम्-544

शास्त्र का प्रयोजन तत्व दर्शन है

तत्व दर्शन अर्थात् लौकिक अलौकिक पदार्थो के याथार्थ्य या रहस्य का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाना या करा दिया जाना ही शास्त्र की उपयोगिता है। तत्व दर्शन न होने पर शास्त्रीय ज्ञान व्यर्थ हो जाता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय की कुशलता ही तत्व ज्ञान है। अपने जीवन को सुखमय बनाना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। ज्ञान के द्वारा ही दुःखातीत स्थिति को अपनाए रखना ही शास्त्र ज्ञान का उद्देश्य है।

अपने जीवन में सत्य का पालन ही शास्त्रज्ञता है। शास्त्रों को रट लेना मात्र या उनका अन्धानुगामी होना शास्त्रज्ञता नहीं है।

'देवो भूत्वा देवं यजेत् अर्थात् जैसे देव बने बिना देव पूजन अशक्य है इसी प्रकार जब तक शास्त्रपाठी लोग अपनी तपस्या, संयम, विचार शीलता तथा इन्द्रिय निग्रह आदि उदार स्वभावों के द्वारा शास्त्रकार की महत्वपूर्ण मानसिक स्थिति लेकर बिताना नहीं सीखेंगे या जीवन नहीं बितायेंगे तब तक शास्त्रों को रटने से कुछ नहीं मिलेगा।

निरुक्तकार यास्काचार्य ने भी यही बात कही है-

नैतेषु ज्ञानमस्त्यनृषेरतपसो वा

वेदों में उन लोगो के लिए कोई भी ज्ञान नहीं है जो स्वयं मन्त्र दृष्टा ऋषियों ही जैसे तपपूत ऋषि और उन्हीं जैसे तपस्या परायण सन्त नहीं है। निरुक्तकार के कथन का अभिप्राय है कि वेदों में से केवल तपस्वियों को ही कुछ प्राप्त हो सकता है।

तत्वज्ञानं कार्यमेव प्रकाशयति-545

तत्वज्ञान अर्थात् कार्याकार्य परिचय या सदसद्विचार शक्ति, कार्य को ज्ञान ज्योति से प्रकाशित कर देती है।

तत्वज्ञान-कर्तव्याकर्तव्य निर्णय करने की कुशलता, मनुष्य को व्यावहारिक जीवन का स्वरुप बतला देता है कि वह कैसा होना चाहिए। किस समय, किसको, कहाँ, क्या, करना चाहिए ये सब बात मनुष्य का तत्वज्ञान रुपी हृदयस्थ गुरु ही उसे समझाता है। विचार शील लोग जो कोई काम करते हैं उन्हें उसकी कर्तव्यता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहता। वे लोग अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में संदिग्धावस्था में नहीं रहते, कर्तव्य पालन से ही ज्ञान की सफलता है- **ज्ञानं भारः क्रियां विना।**

व्यवहार में सत्य का तो विजयी रहना और असत्य का पराजित होना ही कर्तव्याकर्तव्य निर्णय की कुशलता का परिचायक है। तत्वज्ञान का काम मनुष्य को अकार्य से रोके रखना है तथा कर्ता को असमंजस-संदिग्धावस्था में न रहने देना है। असत्य की पहचान सत्य को अपना चुकने पर ही होती है। सत्य को अपना चुकने से पहले असत्य को नहीं पहचाना जा सकता। सत्य को अपना चुकना ही तत्वज्ञान है। तत्वज्ञ के व्यवहार में, शान्ति, सौमनस्य दयालुता कृतज्ञता आदि अनेक गुण होते हैं।

उनमें अशान्ति नहीं रहती जिनके व्यवहार में कर्तव्यभ्रष्टता, अशान्ति, उत्तेजना, सन्देह और कर्तव्यमूढ़ता नहीं है, वही तत्वज्ञ है। अर्थात् तत्वज्ञान सफल कार्यों को ही कर्तव्य बताता है। वह निष्फल-अकरणीय कर्मों को कर्तव्य नहीं बताता।

व्यवहारे पक्षपातो न कार्यः-546

व्यवहार में पक्षपात नहीं करना चाहिए।

दूसरे लोगों से किया गया सम्बन्धित कार्य व्यवहार होता है। दूसरे लोगों से तात्पर्य है परिचित-अपरिचित, मित्र-शत्रु, स्वामी-सेवक, परिजन सभी तरह के लोग। किसी कार्य को व्यक्तिगत दृष्टि से, लाभ-हानि, पसन्द-नापसन्द की दृष्टि से नहीं देखा जाना ही पक्षपात रहित कार्य-व्यवहार होता है। केवल कार्य का औचित्य-अनौचित्य ही देखा जाना चाहिए। जिसके साथ व्यवहार किया जा रहा है उसके साथ सम्बन्ध जोडे बिना केवल औचित्य-अनौचित्य का आचरण ही उचित अनुचित-निष्पक्ष व्यवहार कहलाता है। परन्तु व्यवहार में ऐसा बहुत कम देखने में आता है। लोग अक्सर यह देखते हैं कि उनके व्यवहार से खुद को या किसी अभीष्ट निकट सम्बन्धी को लाभ हो। किन्हीं लोभों-लाभों-मजबूरियों से प्रभावित नही होना चाहिए अन्यथा वह दूसरों में असन्तोष पैदा करता है।

राजकार्य में विशेषतः पक्षपात से बचना जरुरी होता है पर सबसे ज्यादा पक्षपात यहीं देखने में आता है। नियुक्तियाँ हों, लाइसेंसों, ठेका, सरकारी अनुदान, कर्ज सभी जगह पक्षपात पूर्ण व्यवहार होता है। राजनेताओं तथा सत्ताधारी पक्ष के राजनीतिज्ञों का तो यही सामान्य आचरण है। अन्धा बाँटे रेवड़ी, फिर-फिर अपनों को ही दे। यही आजकल का जनसामान्य प्रचलन है। अतः पक्षपात भी भ्रष्टाचार का ही एक रुप है।

व्यवहार का एक अर्थ विवाद भी होता है अर्थात् मुकदमा। जब किसी विषय पर दो पक्षों में विवाद हो जाए तो उसमें निष्पक्ष या सत्य का पक्ष लेकर ही फैसला होना चाहिए। विवाद में जिसे भी निर्णायक या जज बनाया जाए उसे पक्षपात रहित होकर ही फैसला करना चाहिए। इसीलिए पंच को परमेश्वर कहा जाता है। लेकिन बहुत से न्यायिक अधिकारी रिश्वत लेकर इंसाफ का खून ही कर डालते हैं। मजेदार बात तो यह है कि यूँ तो पक्षपात की सभी निन्दा करते हैं किन्तु व्यवहार में पक्षपात चाहते हैं या पक्षपात करते हैं।

व्यवहार सत्यानुकूल होने से सुखद होता है। सत्य मन की निष्पक्ष स्थिति है। इन्द्रियों की अभिलाषाओं या भौतिक लाभों से अप्रभावित रहना निष्पक्षता है। व्यवहार में जितेन्द्रियता, निस्वार्थता या सत्यसेवा को आधार बनाकर पक्षपात रहित होना कहलाता है। सत्य की रक्षा भी पक्षपात रहित हो जाने से ही होती है। निष्पक्ष व्यवहार न होने से अपना तथा समाज दोनों का ही अनिष्ट होता है तथा समाज में भ्रष्टाचार व्याप्त होता है।

धर्मादपि व्यवहारो गरीयान्-547

व्यवहार, धर्म से भी श्रेष्ठ-प्रमुख है।

व्यवहारहीन धर्म, धर्म ही नहीं है। धर्म को व्यवहार का रुप मिल जाना अर्थात् धर्माचरण और व्यवहार का ही परमार्थ बन जाना या समस्त प्रवृत्तियों का धर्ममय बन जाना ही धर्म की सार्थकता है। व्यवहार ही धर्म की कर्मस्थली है अर्थात् व्यवहार ही धर्म को प्रकट होने का अवसर देता है। व्यवहार में धर्म का न होना ही धर्म की व्यर्थता है। सत्यनिष्ठा ही मनुष्य का धर्म है। व्यवहार में सत्य को प्रकट करना ही मनुष्य की सत्यनिष्ठा है। यदि मनुष्य के व्यवहार में सत्य ही प्रकट न हो तो असत्य ही उसके जीवन में प्रबल होकर रह रहा है और जीवन में असत्य के प्रबल होने से मनुष्य का अधार्मिक होना प्रमाणित होता है।

व्यवहार ही धर्म का संरक्षक क्षेत्र है, धर्म को व्यवहार से ही आत्मलाभ मिलता है। जो धर्म व्यवहार में उपेक्षित रहता है जो धर्म व्यवहार भूमि पर उतरने का साहस ही नहीं करता, वह धर्म का आवरण मात्र है वह धर्म ही अधर्म को खेलने का मौका देता है। वह अव्यावहारिक आसुरी धर्म होता है। मन को आत्मशक्ति से जितेन्द्रिय बने रहने की व्यवहार कुशलता ही तो आध्यात्मिकता है। इस प्रवंचनापूर्ण जप-तप भजन-कीर्तन, ध्यान-धारणा, योग-यज्ञ शारीरिक जटिल प्रक्रियाएँ ईश्वर के आगे नपुंसक होकर गिडगिडाना यह सब आध्यात्मिकता का ढ़ोंग है।

आत्मा हि व्यवहारस्य साक्षी-548

आत्मा ही व्यवहार की साक्षी है।

आत्मा ही मनुष्य के सत्य स्वरुप की कसौटी है। मनुष्य आत्मा को सत्यस्वरुप की कसौटी पर कस कर ही कर्तव्याकर्तव्य का विचार तथा निर्णय किया करता है। मनुष्य की अन्तरात्मा या उसके भीतर रहने वाला सत्य, जिस बात को कर्तव्य के रुप में स्वीकार कर लेता है, उसे व्यवहार में लाना अनिवार्य हो जाता है। उसे प्राणों के नाश की शंका तक भी च्युत नहीं कर सकती। सत्य के नाम पर हुए ऐतिहासिक बलिदान इस बात के साक्षी हैं। यदि मनुष्य व्यवहार में सत्य की उपेक्षा कर देता है तो उसकी अन्तरात्मा उसे कचोटती है। मनुष्य स्वयं ही अपनी-पराई व्यवहार शुद्धि की कसौटी है। मनुष्य को व्यवहार की श्रेष्ठता का स्वरुप

किसी दूसरे से नहीं सीखना होता जैसे मछली के बच्चों को तैरना नहीं सिखाया जाता, उसे स्वयं ही अंग संचालन से तैरना आता है। इसी प्रकार मनुष्य को व्यवहार की सचाई सिखाई नहीं जाती। वह उसे स्वभाव से आती है। बाह्य शिक्षा उसी में परिष्कार करने वाली हो सकती है।

मनुष्य भले ही सारे संसार को धोखा दे लेकिन अपने मन को नहीं। तेरा मन दर्पण कहलाए। भले-बुरे सारे कर्मों को देखे और दिखाए। मनुष्य की आत्मा उसके अपने कर्मो के औचित्य-अनौचित्य के निर्णय का एक ऐसा न्यायालय है जिसकी आँखों में धूल नहीं झोंकी जा सकती। मनुष्य का मन उसकी चेष्टा तथा उस चेष्टा की प्रेरक भावनाओं से पूर्णतः परिचित होता है-

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्तद्यत्नेन कुर्वीत् विपरीतं तु वर्जयेत्॥

जिस काम को करते हुए मनुष्य की अन्तरात्मा को सन्तोष हो उसे यत्नपूर्वक करे तथा इससे विपरीत असन्तोष आदि होने पर उसे न करे।

अर्थाः-धनं-वित्तम्

धर्मस्य मूलम् अर्थः, अर्थस्य मूलं राज्यम् (2-3)

अर्थ शब्द अनेकार्थक है- पदार्थ बोधक शब्द (meaning) प्रयोजन (Purpose) एवं धन-सम्पत्ति (money, wealth) वित्त, द्रव्य, द्रविणम् आदि अनेक पर्यायवाची शब्द हैं इसके। देश की धन-सम्पदा की व्यवस्था अर्थव्यवस्था (Economy) कहलाती है और इस अर्थव्यवस्था का अध्ययन करने वाला शास्त्र 'अर्थशास्त्र' (Economics) कहलाता है। राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) इसी की एक शाखा है।

चाणक्य ने अर्थ शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग किया है। उसके 'अर्थशास्त्र' नामक ग्रन्थ में राज्य की अर्थनीति एवं अर्थव्यवस्था के अतिरिक्त सामान्य नीति, शासन व्यवस्था, राजनीति, कूटनीति, पर- राष्ट्रनीति और दण्डनीति का भी विवेचन है। अर्थनीति के लिए इसमें 'वार्ता' शब्द आया है। इस सूत्र में प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द व्यक्तिगत रुप में मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाला तथा दूसरा समष्टि रुप में राष्ट्र या राज्य से सम्बन्ध रखने वाला है।

अर्थ को धर्म का मूल कहने का तात्पर्य है कि अर्थ धर्म का पोषण करता है। अर्थ के अभाव में मनुष्य तथा राष्ट्र क्षीण हो जाता है और उसका क्षय हो जाता है। चाणक्य नीति में कहा गया हैं 'वित्तेन रक्ष्यते धर्मो' अर्थात् वित्त से धर्म की रक्षा होती है। अतः सूत्र का अर्थ हुआ अर्थ धर्म की रक्षा करता है तथा मनुष्यों तथा राष्ट्र को धर्मच्युत होने से बचाता है तथा राष्ट्र की सुदृढ़ अर्थ व्यवस्था तथा समृद्धि उसे धर्मपरायण बनाती है।

जीवन में मनुष्य की तीन मूलभूत आवश्यकताएँ हैं- भोजन-वस्त्र और आवास। प्राचीन काल में वनों में रहने वाले आदिम जाति के लोगों को ये चीजें प्रकृति से प्राप्त हो जाती थीं। लेकिन सभ्यता के निरन्तर विकास से Barter system से परस्पर विनिमय अनेक रुपों में पशुधन, अन्न, स्वर्ण, मुद्रा आदि रुपों में विकसित हुआ। निर्धन मनुष्य अपने जीवन की आवश्यक-मूलभूत सुविधाएँ नही जुटा पाने के कारण अधर्म का मार्ग अपनाता है- 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापं, क्षीणाः जनाः निष्करुणाः भवन्ति'। भूखा आदमी कौन सा पाप नहीं करता,

भूख से पीडित मनुष्य के हृदय में करुणा नहीं होती। इसके अतिरिक्त निर्धन मनुष्य का समाज में आदर नहीं होता। 'चाणक्य नीति' में ही कहा गया है–

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।

यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स च जीवति॥

जिसके पास धन होता है उसके मित्र होते हैं, जिसके पास धन है उसके बन्धु–बान्धव होते हैं। धनवान् व्यक्ति ही संसार में मनुष्य समझा जाता है और जिसके पास धन होता है वही भली प्रकार जी पाता है।

धन के बिना मनुष्य कठिनाईयों और कष्टों में घिरा रहता है और कभी सुखी नहीं होता। वह सामान्य तथा विशेष धर्मों का पालन नहीं कर सकता।

आधुनिक युग में इसी अर्थ ने अनर्थ कर रखा है। एक तरफ धन के अपार भण्डार भरे हैं दूसरी तरफ भुखमरी से लोग मर रहे हैं। धन लोलुपता से सारे संसार में मार–काट मची हुई है। झूठ, बेईमानी, मुनाफाखोरी, मिलावट आदि धन लिप्सा के परिणाम हैं। निर्धनता के कारण चोरी, लूटमार, जेबतराशी, डकैती आदि अपराध बढ़ रहे हैं। दोनों ओर ही पाप कर्म बढ़ रहे हैं, अधर्म फैल रहा है, उसी अर्थ से धर्म–शान्ति–अमन–चैन भी स्थापित होता है।

अर्थस्य मूलं राज्यम् 'कौटलीय अर्थशास्त्र' तथा 'मनुस्मृति' आदि स्मृतियों में राज्य के सात अंगो का उल्लेख है– राजा, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड और मित्र ये सातों अंग अलग–2 नहीं बल्कि एक शरीर के विभिन्न अंग हैं। एक भी अंग के दुर्बल होने से सारा शरीर दुर्बलता अनुभव करता है।

राज्य का कोश भरा हुआ होना चाहिए। कोष प्रचुर न हो तो राज्य जनता के कल्याण का कार्य अच्छी तरह से नहीं कर सकता। कोष के बिना राज्य न तो विकास कर सकता है और न उन्नति। राज्य कोष, राज्य की शासन व्यवस्था व अर्थव्यवस्था पर निर्भर करता है। राज्य को अर्थ का मूल कारण इसलिए कहा जाता है।

जिस देश की शासन व्यवस्था सुदृढ़ हो वहाँ अपराध कम होते हैं और जनता के सभी वर्ग निश्शंक होकर अपना–अपना काम करते हैं। सुदृढ़ शासन व्यवस्था से उद्योग धन्धों में निरन्तर वृद्धि होती है। यातायात की सुविधाएँ होती हैं। राजस्वों की वसूली ठीक ढ़ंग से होती है। राज्याधिकारी तथा राजकर्मचारी ठीक ढ़ंग से अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। इस तरह की व्यवस्था से राज–काज ठीक ढ़ंग से चलता है।

राज्य व्यवस्था ढ़ीली या भ्रष्ट होने से चारों तरफ लूट–खसोट का सा वातावरण होता हैं जिस का असर राज्य की अर्थव्यवस्था पर पड़ता है। आज हमारे देश की अर्थव्यवस्था

इसीलिए डाँवाड़ोल हो रही है कि समस्त शासन बिल्कुल भ्रष्ट हो चुका है। जब तक शासन व्यवस्था–सुदृढ़–स्वच्छ नहीं होगी तब तक अर्थव्यवस्था में कोई सुधार नहीं हो सकता।

निस्सन्देह, यह सत्य है कि धन का इंसान के जीवन में बहुत अधिक महत्व है लेकिन इसे साधन के रुप में ही अपनाना चाहिए साध्य के रुप में नहीं, अन्यथा समाज में अनेक प्रकार की बुराईयाँ जन्म ले लेती है जैसे लूट–खसोट, मारा–मारी, छीना–झपटी, गला–काट स्पर्धा आदि। लेकिन राजा एवं व्यवसायी–उद्योगपति आदि के लिए वह भी नितान्त आवश्यक है। यदि वह ऐसा नही करता है तो वह विकास–उन्नति सुख सुविधाएँ नहीं जुटा पायेगा जैसा कि आचार्य चाणक्य का कथन है– **अर्थतोषिणं श्रीः परित्यजति– सूत्र 77**

आचार्य चाणक्य ने बखूबी इस तथ्य को समझते हुए अनेक सूत्रों द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया है। आचार्य चाणक्य ने धनार्जन करने की प्रवृत्ति को गलत नही बताया है क्योंकि श्रम–परिश्रम–ईमानदारी से ही धनोपार्जन हो पाता है, विकास–सुविधाएँ, सुख–चैन, गरीबों को रोजी–रोटी कमाने, अपने परिवार को पालने–पढ़ाने, विकसित करने का अवसर मिलता है।

धन को जीवन की नितान्त मूलभूत आवश्यकता समझते हुए सूत्र दिया है– **'अर्थैषणा व्यसनेषु न गण्यते'** अर्थात् धन की अभिलाषा व्यसन नहीं मानी जाती। धनार्जन कोई बुरी बात नहीं है। धर्नाजन करने वाले घोर परिश्रम एवं बौद्धिक कुशलता, ज्ञान–व्यवहार से ही अपने लिए यश तथा समाज एवं राष्ट्र के लिए उद्योग स्थापित करते हैं। केवल ध्यान इस बात का रखने का है कि धनार्जन में कोई गल्त रीति–नीति न अपनाई जाए। अतः उचित ही उपाय–सुझाव है आचार्य चाणक्य का– **'अर्थमूलौ धर्मकामौ' 91–92।** मनुष्य जीवन को सुखी रखने के लिए धर्म–कर्म भी करता है और उसके लिए धन नितान्त आवश्यक है।

धनार्जन एवं धनसंचय दोनों ही आवश्यक हैं। मितव्ययता न होने से आवश्यकता के अवसर पर कठिनाई होगी। अतः धन प्रबन्धन का ज्ञान भी आवश्यक है। धन प्रबन्धन भी विशेषज्ञता का क्षेत्र बन गया है और बड़े–बड़े गुरु Wealth management के courses पढ़ा–पढ़ा कर लाखों रुपए कमा रहे हैं लेकिन आचार्य चाणक्य ने ये सभी गुर अत्यन्त सहज सरल ढ़ंग से बताए–सिखाए हैं और वह भी बिना किसी फीस के।

आचार्य चाणक्य ने एक अन्य अत्यन्त उपयोगी सूत्र बताया है– **'परीक्ष्यकारिणी श्रीश्चिरं तिष्ठति' सूत्र 113** अर्थात् जाँच परख कर कार्य करने से लक्ष्मी दीर्घकाल–तक ठहरती है। कार्य के पूर्ववर्ती परिणामों पर विचार करने से धन के सही प्रबन्धन की रुप रेखा तैयार हो जाती है। ऐसे व्यक्ति के पास धन लम्बे समय तक ठहरता है। यूँ तो लम्बे समय तक लक्ष्मी नहीं ठहरती उसके लिए विशेष यत्न करने पड़ते हैं।

महाकवि भारवि का भी यही विचार-कथन है-

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदः।

वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥

अचानक कोई भी कार्य न करें क्योंकि अज्ञानता बड़ी मुसीबतों की जड़ है। गुण की लोभी सम्पत्तियाँ स्वयम् ही विचारशील व्यक्ति को चुनती हैं।

सोच विचार कर खर्च करने वाला कभी व्यर्थ के खर्चे नहीं करता और मितव्ययी के पास लक्ष्मी चिरकाल तक ठहरती है। स्वाभाविक तौर पर खर्च किए जाने से धन का ठहराव रहता है। अतः सफलता की इच्छा रखने वालों को धन खर्च करने के प्रति सावधान-जागरुक रहना चाहिए। एक अन्य सूत्र से इसी बात को और अधिक स्पष्ट किया गया है-

भाग्यवन्तमपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति- 115

भाग्य-भरोसे रहने वाले बिना विचारे काम करने वाले को भी लक्ष्मी त्याग देती है। कार्य आरम्भ करने से पहले समय, स्थान, अवसर और परिणाम आदि पर अवश्य विचार किया जाना चाहिए अन्यथा वह शीघ्र ही निर्धन हो जाता है, भाग्य भी उसके धन को बचा नही पाता।

अतः आचार्य चाणक्य की सीख है धनार्जन के साथ-साथ धन प्रबन्धन भी आना चाहिए। धन की रक्षा के लिए-

सर्वाश्च संपतः सर्वोपायेन परिग्रहेत- 114

अर्थात् उचित उपायों से सभी सम्पत्तियों का संग्रह (Collection-earning) करना चाहिए।

धन-संपदा को चिरस्थायी रखने के लिए व्यक्ति कर्मशील एवं धर्म परायण रहे। अपने काम-काज में व्यस्त व्यक्ति को व्यसन एवं दुर्गुण आदि बाधित नहीं करेंगे। उसे मृगया, जुआ शराब आदि के लिए फुर्सत ही नहीं होगी। व्यसनों में जो धन शक्ति, समय की बर्बादी होती है उससे काम-धन्धा भी चौपट हो जाता है। साथ ही, पारिवारिक सुख-चैन व निजी व्यक्तिगत मानसिक, शारीरिक शक्ति। वह सभी कुछ उल्टा सोचने-करने लगता है। व्यसनी व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ बदल जाती हैं क्योंकि 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः'। धन के मद में घर-परिवार में नित्य प्रति कलह से भावी पीढ़ी पर असर पढ़ता है। अतः धन का प्रयोग कुशलतापूर्वक ही किया जाना चाहिए। धनार्जन, संग्रह तथा व्यय का ज्ञान आचार्य चाणक्य ने बखूबी दिया है अपने ग्रन्थों में।

(साधुपुरुषों की अर्थनीति)

अवमानेनागतमैश्वर्यभवमन्यते साधुः - 160

साधु-सत्यनिष्ठ-ऋजु व्यक्ति, उत्कोच आदि गर्हित ढ़ंगो से आने वाले ऐश्वर्य को तृण के समान अस्वीकार कर देता है।

सत्यनिष्ठ लोग अपयश फैलाने वाले–अपमान से मिलने–वाले ऐश्वर्य को तृण के समान अस्वीकार कर देते हैं। जिस ऐश्वर्य से अपने चरित्र पर दाग लगता देखते हैं तथा अपने सम्मान की हानि समझते हैं उसे किसी भी रुप में स्वीकार नहीं करते क्योंकि 'मानो हि महतां धनम्' क्योंकि मान–प्रतिष्ठा ही महापुरुषों का धन है। वे अपने मानधन की रक्षा प्राणपण से भी करते हैं। वे स्वाभिमानपूर्वक अपने न्यायागत धन से सन्तुष्ट रहकर अपने मानधन की रक्षा करके निर्धन जीवन बिताने को सौभाग्य और इसी में स्वाभिमान अनुभव करते हैं। चाणक्य ने कहा भी है– **नार्यागतोऽर्थवद्विपरीतोऽनर्थभावः – 156**

अनार्योचित व्यर्थ आचरणों से बचने में ही मानव जीवन की सार्थकता है। उन्नतिशील मनुष्य रुचिविरुद्ध नाच–गान, खेल–तमाशे, तथा ताश–शतरंज–जुआ आदि व्यर्थ अनार्य आचरणों से बचें।

सच्चा धन।

न्यायागतोऽर्थः –156 (क)

न्याय अर्थात् धर्म सुनीति और समुचित उपायों से समुपार्जित धन ही धन कहलाने योग्य है।

अन्याय अनीति तथा दूसरों को उद्विग्न कर डालने वाले अनुचित उपायों तथा उद्वेजक ढ़ंगो से उपार्जित धन के रुप में महान् अनर्थ है। 'परित्यजेदर्थकामौ यौ स्याताम् धर्मवर्जितौ' अर्थात् मनुष्य धर्महीन अर्थ और धर्महीन काम से सुखी होने की आशा न बांधे धर्माचारहीनों का धन मलसंचय मात्र है।

तद्विपरीताऽर्थाभासः–156 (ख)

हीन उपायों मार्गों या प्रकारों से प्राप्त धन को अर्थरुपधारी अनर्थ मानना चाहिए।

मनुष्यता से पतित होकर ही अर्जित होने वाला धन साक्षात् मूर्तिमान् अनिष्ट है। इसलिए मनुष्य का चोरी–डकैती, शठता, कुटिलता, छल, माया, अनृत से उपार्जित धन निन्दनीय है। हीन उपायों से आने वाला धन नीचाशय व्यक्ति को अच्छा लगता है।

अमरवदर्थजातमर्जयेत्–254

मनुष्य अपने को अजर–अमर मान कर जीवन पर्यन्त जीवनोपयोगी सामग्रियों का अर्जन करता रहे। मनुष्य अपने ऊपर वार्धक्य, वैराग्य, आलस्य, असामर्थ्य को कभी हावी न होने दे। अपने शरीर को उत्तमोत्तम गुणों का धाम बना कर उसे सेवा कार्यों में जुटाए रखे। सेव्य–सेवक भाव से संसार में जन कल्याण कार्यों में जुटा रहे। धन कभी भी त्याज्य नहीं है लेकिन धन की आसक्ति लोभ–मोह त्याज्य है। मृत्युपर्यन्त धनार्जन में जुटा रहे। पञ्चतन्त्र में कहा भी गया है–

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

मनुष्य विद्या व धनार्जन स्वयं को अजर-अमर मानता हुआ करे। लेकिन कर्तव्य पालन के विषय में स्वयं को बालों से मौत के द्वारा पकड़ा हुआ समझकर आचरण करे।

धनार्जन के प्रयत्न कभी स्थगित मत करो क्योंकि

अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुमतः-255

ऐश्वर्य सम्पन्न मानव अपनी अर्थशक्ति से सार्वजनिक सम्मान का भाजन हो जाता है।

व्यावहारिक जीवन में धन ही तो लोकस्थिति-अपना दबदबा बनाने का मार्ग-उपाय है। यदि मनुष्य धनी होकर व्यसनासक्त न हो उसका धन गोदुग्ध के समान अमृत सम पोषक हो जाता है लेकिन यदि व्यसनासक्त हो तो वही धन दुग्ध में पिए विष के समान मारक हो जाता है।

राज्य संस्था के पास राज्यैश्वर्य रहना अनिवार्य रुप से आवश्यक है। राजा ऐश्वर्यशाली होकर ही प्रजापालन में समर्थ होता है। राजा को राज्यैश्वर्य सम्पन्न बनने में अपना कोई भी सत्यानुमोदित प्रयत्न स्थगित नहीं रखना चाहिए क्योंकि-

धनेन बलवान् लोको धनाद् भवति पण्डितः-

मनुष्य धनवान् होने से बलवान् तथा बुद्धिमान् माने जाने लगता है।

उच्चासीन पद पर भी व्यक्ति धनहीन होने पर महत्वशून्य हो जाता है।

महेन्द्रमप्यर्थहीनं न बहु मन्यते लोकः-256

संसार अर्थहीन स्वर्गसम्राट् महेन्द्र का भी सम्मान नहीं करता। लोग सांसारिक व्यवहारों में भी धनहीन की अवज्ञा-अनादर करते हैं। सांसारिक लोग शारीरिक शक्ति से बली अथवा उच्च पदवी पर भी आसीन होने से अर्थशक्ति से क्षीण व्यक्ति की अवज्ञा करते हैं क्योंकि दरिद्रता तो जीवन जीते हुए भी मरने के समान है-

दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य जीवितं मरणम्-257

दरिद्रता जीवित मनुष्य को भी मृतवत् व्यर्थ बना देती है। भौतिक देह रक्षा या राज्य रक्षा भौतिक साधनों से ही होती है। अर्थाभाव के कारण साधनों का न रहना, देह और राज्य के विनाश का कारण बन जाता है। निर्धनता के प्रसंग में जहाँ अभाव विनाश का कारण बन जाता है वहाँ धनाधिक्य भी घातक है। धन का बाहुल्य होने पर भी कुत्सित धनतृष्णा बने रहने से वे छल कपट से दूसरों के जीवन साधन छीन लेते हैं। इस प्रकार की मानसिक दरिद्रता बहुत बुरी दरिद्रता है, जिसे हटाना अत्यन्त आवश्यक है। धनतृष्णा मानव मन को सदैव अभावग्रस्त रखती है। धनतृष्णा के चक्कर में वे वास्तविक सुख भूल कर दुःखी जीवन जीने लगतें हैं और

मृतवत् जीवन जीने लगते हैं। वे समाज के सहयोग से उपार्जित धन को समाज के अभ्युत्थान में अर्पण न करने वाले लोग समाज के व्याधिग्रस्त अंग हैं।

अर्थश्री से शोभित दानी पुरुष सौन्दर्य हीन होने पर भी सुन्दर रुप-रुचिकर प्रतीत होता है।

विरुपोऽर्थवान् सुरुपः -258

धन का सदुपयोग करने वाला ही सच्चा धनवान् है। दैहिक सौन्दर्य न होने पर धनी अपने हार्दिक-भावनात्मक सौन्दर्य से समाज में आदर पाता है और याचकों को मोहित करने वाला होता है। धनवानों की कुरुपता उनके धन से दूर हो जाती है। उनके धन से उपकृत होने वाले उनके दर्शनों से कृतार्थ होते हैं। उनकी दानवृत्ति ही उन्हें सुरुप बना देती है। लेकिन यह ध्यान देने योग्य है कि केवल दानी धनियों को ही यह सुरुपता प्राप्त होती है कृपणों को नहीं।

लेकिन-अदातारमप्यर्थवन्तमर्थिनो न त्यजन्ति-259

धन इच्छुक धनार्थी लोग कृपण धनवान् को भी अपनी धनतृष्णा का आखेट बनाने से नहीं चूकते अर्थात् याचक लोग उसकी दानशक्ति को उत्तेजित करने के लिए उनसे याचना ही करते रहते हैं, जैसे मदनमोहन मालवीय धनियों के धनी होने से दान की संभावना देखकर उनसे याचना करते ही चले जाते थे।

धन की दान, भोग, नाश तीन अवस्थाएँ होती हैं। सत्पात्र को दान देना धन को सुरक्षित करने की सर्वोत्तम विधि है क्योंकि 'उपार्जित वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्' अर्थात् उपार्जित धनों का समाज सेवा में विनियोग ही धन की रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध है। यदि हमारे धन का सदुपयोग हमारे समाज को गुण सम्पन्न और सुखी बनाने में हो जायेगा तो हमारे धन का सर्वोत्तम सदुपयोग होगा। धन्य है वे लोग जिनकी उपार्जित धनशक्ति अपने समाज के कल्याण में प्रयुक्त होती है।

सत्पात्र को दान करना ही धनवान् की बुद्धिमत्ता है। सत्पात्र को दान करने वाला ही आत्मसन्तोष प्राप्त करता है। कृपण का धन अपात्र के हाथों में पहुँच कर समाज के अकल्याण में प्रयुक्त होता है जो उसे दुःखी बनाता है।

अभाव ग्रस्त, विपन्न व्यक्ति की सहायता, पाठशाला, धर्मशाला, प्याऊ, पुल, घाट, औषधालय के निर्माण तथा संचालन, भूचाल, जलप्रलय, महामारी आदि में राहत कार्य से अपनी सदुपार्जित धनशक्ति का व्यय करना ही समुचित दान है। चोर-डाकू, व्यसन, विपत्ति, राष्ट्रविप्लव आदि में धन का नष्ट हो जाना 'नाश' है। कुटुम्ब, अतिथि, आश्रित तथा अपनी जीवन यात्रा के लिए व्यय हो जाना 'भोग' कहलाता है। जिस कृपण मानव में 'भोग' और 'दान' की बुद्धि नहीं होती उसके धन का 'नाश' होना अनिवार्य है। उसका धन उसके लिए ही सिरदर्द बन जाता है।

अपनी धनशक्ति को समाज सेवा में लगाने वाला धनी अकुलीन होने पर भी समाज सेवा से विमुख रहने वाले कुलीन से श्रेष्ठ हो जाता है।-

अकुलीनो कुलीनाद् विशिष्टः-260

आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम्।

निष्ठा वृत्तिस्तपो दानं नवधा कुललक्षणम्।।

सदाचार, विनय, विद्वता, प्रतिष्ठा, सत्संग, भक्ति, जीवननिर्वाह की पद्धति, तप तथा दान से युक्त ये नौ प्रकार के व्यक्ति कुलीन होते हैं।

समाज सेवा की भावना होने पर कुलीनता हो अथवा अकुलीनता इसकी अपेक्षा दान-सहायता की भावना अधिक महत्वपूर्ण होती है। नीच को समाज में अपने सम्मान अथवा तिरस्कार की परवाह नहीं होती। वे तो धन को केवल समाज की धरोहर अपने पास रखी हुई है ऐसा समझते-मानते हैं। इसी प्रकार किसी के धन को अपने पास रक्खी धरोहर के समान इफाजत से रखते हैं और उसका सदुपयोग होते हुए देखना चाहते हैं।

कस्यचिदर्थं स्वमिव मन्यते साधुः-265

किसी दूसरे के धन को अपने धन के समान समझने का अर्थ यह नहीं कि दूसरे का धन हड़प कर लिया जाए। तात्पर्य है कि जैसे अपने धन की सुरक्षा की जाती है और उसका सदुपयोग किया जाता है उसी प्रकार दूसरे के धन की सुरक्षा व सदुपयोग किया जाना चाहिए। यह सूत्र उन लोगों पर लागू होता है जो धर्मार्थ संस्थाओं के अधिष्ठाता होते हैं और उनके पास धरोहर के रुप में दूसरों का धन होता है या सरकारी सहायता से चलने वाली संस्थाएँ जिनके अधीन होती हैं। इस प्रसंग में चाणक्य नीति का यह श्लोक ध्यान में रखना चाहिए-

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।।

जो मनुष्य पराई स्त्री को माता के समान, पराए धन को मिट्टी के ढ़ेले के समान और सब प्राणियों को अपने समान समझता-देखता है वह पण्डित-विद्वान् है।

अर्थात् ये दोनों बातें परस्पर विरोधी प्रतीत होती है कि दूसरे के धन को मिट्टी के ढ़ेले के समान निरर्थक-त्याज्य समझे और दूसरी ओर दूसरे के धन को अपना समझे, लेकिन हड़पने की नीयत से नहीं अपितु सुरक्षा एवं सदुपयोग की दृष्टि से। वास्तव में ये दोनों कथन एक दूसरे के पूरक हैं अर्थात् उसे लालच की दृष्टि न रखकर हड़पना नहीं चाहिए।

परविभवेष्वादरो न कर्तव्यः-266

दूसरों के ऐश्वर्य से आकृष्ट नहीं होना चाहिए।

व्यक्तिगत धन तृष्णा ही दूसरों के धन में लोभ उत्पन्न करने वाली सामाजिक व्याधि है। यदि परधन को लोभनीय माना जायेगा तो उसके अपहरण की इच्छा स्वाभाविक है और मनुष्य

का मनुष्यत्व नष्ट हो जायेगा। जो मनुष्य अपने न्यायार्जित धन में धर्मबुद्धि रखता है वह परधन अपहरण की लालसा नहीं रखता। लोभी तो मानों चोर है और चोर अपराधी और दण्डनीय होता है–

परविभवेष्वादरोऽपि विनाशमूलम्–267

धनलोभ में भ्रमित मनुष्य मान–सम्मान खो बैठता है साथ ही समाज में अशान्ति, पाप और भ्रष्टाचार फैलता है।

पलालमपि परद्रव्यं न हर्तव्यम्–268

अतः दूसरे का तिनका जितना भी धन नहीं चुराना चाहिए। अनधिकार पूर्वक किसी की क्षूद्रतम वस्तु लेना भी चोरी है। चोरी की लघुता–गुरुता से कोई सम्बन्ध नहीं अपितु भावना से सम्बन्ध होने से पाप कर्म माना जाता है। चोरी की भावना भी चोरी ही है। अतः समाज से चोरी की भावना को भी मिटा डालना ही पुण्य–सत्कर्म है।

दूसरे के धनापहरण से अपना भी मन–तन कलुषित हो जाता है और विनष्ट हो जाता है। चोरी करने से समाज में तो गन्दगी फैलाते ही हैं साथ ही स्वयं अपने प्राणों की भी जोखिम में ड़ालते हैं–

परद्रव्यापहरणमात्मद्रव्यनाश हेतुः–269

न चौर्यात् परं मृत्युपाशः–270

अतः चौर कर्म करके मनुष्य अपने गले में मानों मृत्यु का फन्दा डाल लेता है। चोरी से मनुष्य की मनुष्यता, यश, धन शरीर सभी कुछ नष्ट हो जाते हैं।

शरीर धारण के लिए तो सत्तु भर भी पर्याप्त है तो इतनी चोरी चतुराई काहे के लिए?

यवागूरपि प्राणधारणं करोति लोके– 271

षड्रस भोजन के प्रलोभन में चोरी, उत्कोच, अपहरण, लूट–पाट, प्रतारणा, द्यूत आदि की अपेक्षा सत्तु से उदर–पूर्ति करना बेहतर है। अतः समाज में नैतिकता का आदर्श उपस्थित करें जौ की लप्सी से उदर पूर्ति करके भी।

न चासन्नमपि पश्यत्यैश्वर्यान्धः न शृणोतीष्टं वाक्यम्–511

धनान्ध व्यक्ति व्यावहारिक सम्पर्क में आने वाले हितोपदेष्टा समीपवर्ती व्यक्ति की उपेक्षा करता है तथा उनके हितकारी वचनों को भी नहीं सुनता है।

शक्ति–रुप–यौवन–पद–ऐश्वर्य एक अकेले ही सभी को उन्मत्त कर देते हैं और फिर राजाओं में यदि ये सभी विशेषताएँ एक साथ हों तो उनका मदान्ध होना स्वाभाविक ही है। किसी विद्वान् का उपयुक्त ही है यह कथन–

ऐश्वर्यमद पापिष्ठा मादः पान मदादयः।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नाऽपतित्वा विबुध्यते॥

ऐश्वर्य का नशा मद्य आदि के नशों से भी बुरा है। ऐश्वर्य के मद में मतवाला मनुष्य गिरे बिना होश में नही आता। धनांधों में राष्ट्र के सुयोग्य लोगों को भी मान्यता न देने से तथा उनका हितोपदेश न सुनने की यह प्रवृत्ति उन्हीं के विनाश की पूर्वसूचना होती है। विपत्ति आने के समय मनुष्य की बुद्धि-मन-इन्द्रियाँ विकल हो जाती हैं- 'प्रायः समापन्न विपत्तिकाले धियोऽपि पुसां मलिनी भवन्ति' जैसे इन्द्रिय विषयक सुख भोगों के सेवन से शरीर में रक्त का ह्रास होकर आँखों में अन्धेपन का तैमिरिक रोग हो जाता है, इसी प्रकार धनवृद्धि से अविवेक हो जाने पर धनगर्वित मानव रुग्ण मनोवृत्ति का हो जाता है।

बधिरयति कर्णविवरं, वाचं मूकयति, नयनमन्धयति।
विकृतयति गात्रयष्टिं सम्पद्रोगोऽयमद्भुतो राजन्॥

यह सच है कि धन जीवन यात्रा का एक साधन है परन्तु धनान्धता मनुष्य की मनुष्यता का शत्रु भी है और धनान्धता दरिद्रता से भी भयंकर स्थिति है। सिद्धान्त हीनता से आया हुआ धन जिस घर में भी जाता है उसका विनाश कर देता है।

अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः-502

सारा संसार अर्थ-धन के लिए ही कर्म में प्रवृत्त होता है।

धन ही लोकजीवन का एक मात्र साधन है क्योंकि धन से ही मनुष्य जीवन की आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है। आवश्यकताओं के अतिरिक्त जीवन की सभी प्रकार की सुविधाएँ भी धन से ही जुटा पाता है। इसलिए लोगों के कर्मों का उद्देश्य धनोपार्जन ही होता है।

शिक्षा प्राप्ति भी धनार्जन हेतु ही होती है किसी विद्वान् ने ठीक ही सलाह दी है- 'पढ़ो बेटा सोई जिससे हांडी खुदबुद होई'

यदि विद्या अर्थकरी न हो तो कोई भी विद्योपार्जन न करे क्योंकि-

बुभुक्षितैः व्याकरणं न भुज्यते, पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।
न छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्कलाः कलाः॥

भूखा आदमी व्याकरण से भूख नहीं मिटा सकता और प्यासा व्यक्ति काव्य रस से प्यास नहीं बुझा सकता। छन्द से किसी की क्षुद्रता का उद्धार नहीं होता। केवल स्वर्ण-धन कमाओं, सारी कलाएँ निष्फल हैं।

यह भी साथ ही ध्यान में रखना चाहिए कि अर्थ जीवन का साधन मात्र है लेकिन मनुष्य इसका दुरुपयोग करना आरम्भ कर देते हैं। मनुष्य भ्रान्तिवश इन्द्रियसुख को परम सुख मानकर

इन्द्रियों का दास हो जाता है। अनेक कामनाएँ ही उसे इन्द्रियों का दास बनाती हैं। उपार्जित धन भी सुख का साधन न बनकर अधिकाधिक दु:ख का कारण बनता चला जाता है।–

यज्ञ, दान, औषध–उपचार जीवन यात्रा आदि समस्त कार्यों में ही धन की आवश्यकता है। पुस्तकारम्भ में चाणक्य ने कहा भी है। 'धर्मस्य मूलमर्थ:' साथ ही अन्योऽन्याश्रित अनेक गुण व जीवन व्यवहार भी बताए गए हैं। यह सभी मानते हैं कि धन जीवन की अत्यावश्यक वस्तु है परन्तु धन ही सब कुछ नही है। गुणों से अधिक धन को महत्व देना तो मनुष्य की पाश्विक वृत्ति है इससे अन्धा होकर व्यक्ति अनेक अनैतिक दुष्कर्म भी करता है।

आपदर्थं धनं रक्षेत्- 537

मनुष्य आकस्मिक विपत्तियों के लिए कुछ धन संचित करके रखे।

मनुष्य को चाहिए की अपनी कमाई का कुछ अंश बचाकर रखे, पारिवारिक दु:ख–संकट व राष्ट्रीय संकट के क्षणों में देशवासियों की मदद के लिए। वृद्ध माता–पिता के इलाज, सन्तान की उच्चशिक्षा के लिए, निकट मित्र सम्बन्धियों की सन्तान के विवाहार्थ कुछ आर्थिक मदद के लिए नगद–तौहफे के रुप में दिए जा सकते हैं उन्हें भी वृहद् परिवार का सदस्य मानतें हुए। परिवार के सभी सदस्यों की भांति ही समाज व राष्ट्र के सभी प्राणियों पर अपनी धनश्री से सुख–कृपादृष्टि बनाए रखनी चाहिए। आपत्काल में ही धन से संकट टल सकता है। दैवी आपत्काल में दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प, पड़ोसी शत्रुओं के सीमा पर आक्रमण करने पर सैनिकों की सुविधाओं के लिए सरकार की मदद के लिए आर्थिक सहयोग महद् उपयोगी होता है।

सुपात्र को दिया गया दान सर्वोत्तम कहा जाता है, आपात् काल में विशेषत:। भामाशाह ने राणा प्रताप के, मुगलशासकों से मुकाबला करने से आर्थिक संकट उपस्थित होने पर, अपनी सञ्चित समस्त धनराशि अर्पित कर दी थी। सत्प्रयोजन के लिए दिया गया धन ही सात्विक दान होता है। राष्ट्र के आपत्ति काल का सामना धन दान से धन का सदुपयोग है। साथ–ही समाज के विपद्ग्रस्त लोगों की मदद करने से समाज–राष्ट्र उन्नति करता है और मदद पाने वाले व्यक्तियों की दुआएँ मिलती हैं और दानी पुण्यार्जन करता है। धन की उत्तम गति दान और भोग हैं अन्यथा धन नष्ट हो जाता है।

लेकिन जिस देश की प्रजा सामान्य आर्थिक आवश्यक संचय न कर सके तो यही समझना चाहिए कि राष्ट्र की सरकार ने ही प्रजा के उपार्जन पर अनेक पाबन्दियाँ–अंकुश लगा रखे हैं। प्रजा की आर्थिक स्थिति राजशक्ति पर निर्भर करती है। कौटलीय अर्थशास्त्र में वर्णित है–

तस्मात् प्रकृतीनां क्षय विरागकारणानि नोत्पादयेत्॥

राजा अपनी ओर से प्रजा के धन क्षय तथा रोष के कारण उत्पन्न न करे। राजा दातव्य सुविधाएँ न देकर तथा अग्राह्य धन कर (Tax) दण्ड इत्यादि के रुप में वसूल कर, अपराधी

को दण्डित न कर और निरपराध को शक की निगाह से देखते हुए अदालत-थाने में हाजरियाँ भुगतने के लिए विवश करे ऐसी प्रमत्त सरकार प्रजा को असन्तुष्ट, दरिद्र और लोभी बना देती है। कल्याण की दृष्टि से राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा के धन भण्डार का शोषक न बन कर पोषक बने। प्रजा की दरिद्रता राजा के राज्य अव्यवस्था के कारण ही होती है।

राजा राज भण्डार-कोष को स्वयं भी कंजूसी से खर्च करे तथा विपत्ति के दिनों के लिए बचा कर रखें। राष्ट्र भी तो एक परिवार के ही समान है। जैसे परिवार के मुखिया बन्द मुठ्ठी करके रहते हैं वैसे ही राजा प्रजाधन को अपने भोग विलास में खर्च न करे।

अधनस्य बुद्धिर्न विद्यते -291

धनहीन की बुद्धि धनाभाव के कारण किसी उपाय को, कार्य-प्रयोजन में उपयोग में न ला पाने के कारण, हैरान-परेशान रहती है। कार्य के अवसरों पर उसका दबाव-जोर नहीं होता। अर्थाभाव से जीवन यात्रा की चिन्ता से व्याकुलता बने रहने से बुद्धि मन्द-चैतन्य शून्य हो जाती है। प्रतिभा सो जाती है। निर्धनता की स्थिति में बुद्धिमान् स्वयं को निराश न होने देकर अपनी मनोवृत्ति और बुद्धि एवं धैर्य को स्थिर रखें।

बुद्धिमान् व्यक्ति धनहीन होने पर भी समाज की शक्ति होते हैं। राज्य संस्था का निर्माण-विकास करना इन्हीं का उत्तरदायित्व होता है। अतः राजा का कर्तव्य होता है कि बुद्धिमानों की निर्धनता दूर करके उन्हें सच्ची राष्ट्र सेवा का अवसर प्रदान करें।

धनोपासक प्रायः मन की पवित्रता से शून्य सच्चे बुद्धिमान् लोग कम ही होते हैं जिन्हें धन के लिए मन की पवित्रता का बलिदान दे देना पड़ता है। सच्चे बुद्धिमान् लोग कम ही होते हैं जो धन के साथ-साथ मन की शुद्धता बनाये रखते हैं। यद्यपि धन होने पर ही व्यक्ति कार्य की संभावनाएँ-अवसर खोजता है और बुद्धि प्रयोग से उसमे सफलता भी प्राप्त कर लेता है लेकिन अपने चरित्र बल पर ही लोगों का विश्वास जीत पाता है और श्रद्धा का पात्र बनता है।

धनहीनता एक प्रकार से अभिशाप न हो कर चित्तवृति को इधर-उधर फिजूल की बातों में न भटकने देकर अपने काम में ही व्यस्त रखती है, लालबहादुर शास्त्री जी इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं। सीमित साधनों के कारण अपने मन-तन को इधर-उधर भटकने नहीं दिया, उन्होंने राष्ट्रोन्नति को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था।

हितमप्यधनस्य वाक्यं न शृणोति-292

निर्धन के हितकर वचनों पर भी कोई ध्यान नहीं देता।

समाज के धनोपासक हो जाने पर उनका हिताहित विवेक लुप्त हो जाता है। लेकिन समाज का हित जाग्रत करना राजा का कर्तव्य है यही तो मुख्य राजधर्म है। जिस समाज से

समाजहित की भावना लुप्त हो जाती है उस पतित समाज की बनाई हुई राजसंस्था समाज द्रोही बन जाती है। यह राजा का कर्तव्य है कि समाज का हित चाहने व कहने-करने की योग्यता रखने वाले निर्धन व्यक्ति को समाज में मान्यता मिले व पूज्य माना-समझा जाए। इस बात का ध्यान रखे। ये निर्धन-बुद्धिमान् लोग ही राजशक्ति को प्रोत्साहित करते हैं। उनकी नित्यप्रति की दैनिक आवश्यकताओं को पूर्ति का ध्यान राजा राज्य की ओर से करवाता रहे ताकि भोजनाच्छादन से चिन्तामुक्त रहने पर ही निर्धन विद्वान् समाज कल्याण की बात सोचता-बताता रहे।

अधनः स्वभार्ययाऽप्यवमन्यते - 293

परिवार के लिए जीवनसाधन न जुटा सकने वाला निर्धन अपनी भार्या से अपमानित होता है।

धनपति गृहपति की ही जीवन यात्रा सुखी होती है अन्यथा नित्यप्रति पत्नि से धनाभाव के कारण कहा-सुनी होती रहती है। गृहस्थी की प्रमुख आवश्यकताओं के साथ-2 आराम के सुख साधन व इच्छाओं की पूर्ति यदि पति नहीं कर पाता है तो घर में तनाव-विवाद का वातावरण उत्पन्न हो जाता है और पत्नि घर छोड़ कर अन्य साधन खोजती है। जैसे वृक्षवासी पक्षी फल फूल पत्रहीन वृक्ष को और हंस-सारस-बत्तखें जलहीन सरोवर को त्याग देते हैं ऐसे ही धनहीन मानव स्वजनों की श्रद्धा आदर प्रेम से वञ्चित हो जाता है।

इसलिए राजा का कर्तव्य है कि निर्धन विद्वानों को कर्मशील बनाए रखें ताकि गृहस्थी के धनोपार्जन से गृहव्यवस्था सुखपूर्वक चले।

पुष्पहीनं सहकारमपि नोपासते भ्रमरा - 294

जैसे पुष्पकाल बीत जाने पर, पुष्पहीन आम्रवृक्ष को भ्रमर त्याग देते हैं इसी प्रकार यह धनजीवी संसार निर्धन व्यक्ति के पास अपनी इच्छापूर्ति-धनप्राप्ति की सम्भावना न देखकर उसे त्याग देता है।

लोकयात्रा दरिद्रं बाधते - 425

निर्धनता लोकयात्रा में बाधक होती है। धन की उपयोगिता एवं निर्धनता से होने वाली दुर्दशा के विषय में पूर्ववर्ती अनेक सूत्रों में विस्तार से लिखा चुका है तदपि यह विचारणीय है कि जीवनयापन सुविधापूर्वक हो इसके लिए किस प्रकार की मानसिकता हो कि दरिद्रता सहनीय हो।

प्रत्येक मनुष्य तुलनात्मक दृष्टि से अपने से अच्छी स्थितिवालों को धनवान् समझता है और नीची स्थिति वालों को निर्धन समझता है जैसा कि कहा भी गया है -

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपजायते।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्वे एव दरिद्रति॥

नीचे की ओर देखने वाला कौन है जो अपने को बड़ा नहीं समझता। ऊपर की ओर देखने से सभी अपने को दरिद्र समझते हैं। धनी और निर्धन को किसी मापदण्ड से नही मापा जा सकता जो किसी पर लागू हो सके। यह मनुष्य की मानसिक स्थिति पर निर्भर करता है कि वह अपने धर्मानुकूल उपार्जन से सन्तुष्ट होता है या नहीं। जो मन से सन्तुष्ट है वह धनी है जो मन से सन्तुष्ट नही है वह निर्धन है- मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः?

अपनी गरीबी से तंग आया हुआ युवक एक बार अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन से कुछ आर्थिक मदद के लिए गया और कहने लगा ईश्वर ने मुझे कुछ भी नहीं दिया कृप्या मुझे कुछ दें। लिंकन ने हैरानी से युवक की ओर देखते हुए कहा कि भगवान् ने तुम्हें दो हाथ-दो पैर और दो आँखें दी हैं फिर तुम गरीब कहाँ से हो इनसे बेशुमार धन कमा सकते हो। ये अंग यदि उपयोग में लाओ तो बहुत कुछ कमा सकते हो।

फलाकांक्षा को मुख्यता न देकर कर्तव्यपालन को बता देना ही दरिद्रता को दूर करने का एकमात्र उपाय है। दरिद्र अकिंचन लोग धनाभाव में भी सत्याभाव न होने देने की दृढ़ता रखें तो वे अपने दरिद्र जीवन में भी देवदुर्लभ स्वाभिमान का सुख भोग सकते हैं। धनगर्वित धनोपासक धनी होने पर भी धनाभाव का रोना रोया ही करते हैं। इनकी करोड़पति बनने की इच्छा ही इनकी दरिद्रता है। यह दरिद्रता पर धनापहरण करने वाली उस मानसिक स्थिति का ही दूसरा नाम है जो सदा अपने का अभावग्रस्त समझती है और विषयक्षुधा की ज्वाला से सदा ही झुलसते रहते हैं। धन की महिमा निम्न पक्तियों से स्पष्ट है-

(1) उद्योगे नास्ति दारिद्रयं तपतो नास्ति पातकम्।
मौने च कलहो नास्ति जागरिते मानवा निस्तरन्ति॥
(2) धनैः निष्कुलीनाः कुलीना भवन्ति, धनैरापदं मानवा निस्तरन्ति।
धनेभ्यो परो बान्धवो त्रिलोके, धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम् (नीतिसार)
(3) सर्वकष्टा दरिद्रता।
(4) सर्वगुणराशिनाशी दरिद्रता।
(5) दारिद्रयात् मरणं वरम्।
(6) अर्थो हि लोके पुरुषस्य बन्धुः।
(7) उद्योगिनं पुरुष सिंहमुपैति लक्ष्मीः।
(8) सर्वशून्या दरिद्रता।
(9) सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः।

(10) यस्यार्थस्तस्य मित्राणि, यस्यार्थस्तस्यबान्धवाः।

(11) यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः सः श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते।।

(12) दरिद्रता धीरतया विराजते।

(13) अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामर्थ च चिन्तयेत।

(14) त्यजन्ति मित्राणि धनैः विहीनम्, दाराश्च भृत्याश्च सुहृज्जनाश्च।
तं चार्थवन्तं पुनराश्रयन्ते, अर्थो हि लोके पुरुषस्य बन्धुः।।

(15) कीरति भनिति भूति भली सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।– रामचरित मानस

विद्या

विद्याधनमधनानाम्- 295

विद्या निर्धनों का धन है। विद्या भौतिक धन से श्रेष्ठ है। विद्या में यह सामर्थ्य है कि वह गुणग्राही ज्ञानियों से निर्धन ज्ञानियों का आदर करवा देती है। निर्धन विद्वान् लोग अपने विद्या धन को धनियों के धनों से श्रेष्ठ धन मानकर उससे परितृप्त रहते तथा स्वाभिमान भी रखते हुए गौरव का अनुभव करते हैं। वे धनोपासक समाज से उपेक्षित होने पर भी अपनी विद्या का आदर स्वयं करके तृप्ति अनुभव करते हैं। वे धनमत्त धनिकों के निरादर एवं उपेक्षा में ही अपना गौरव समझते हैं।

धन अनेक प्रकार के होते हैं। सब व्यक्ति एक ही प्रकार के धनी नहीं होते। भौतिक धन का धनी बनना सबके लिए जरुरी नहीं है। विद्या, कला, तपस्या, उदारता, सेवा आदि अनेक देव-दुर्लभ धन हैं जिन्हें दैवी धन मान कर पूजा जाता है। भौतिक धन इनके आगे तुच्छ हैं। लेकिन इनसे ही निर्धन लोग संसार में पूजे जाते हैं और जीवन यात्रा भी सार्थक हो जाती है।

वित्तं बन्धुर्वयश्चैव तपो विद्या यथोत्तरम्।
पूजनीयानि सर्वेषां विद्या तेषां गरीयसी॥

धन, बन्धु, आयु, तप तथा विद्या में पिछले-पिछले धनों से श्रेष्ठ है। विद्या आत्मज्ञान-तत्वज्ञान के कारण सर्वश्रेष्ठ है-

विद्याधन की सर्वश्रेष्ठता तो यह ही है कि-

'विद्या चोरैरपि न ग्राह्या।'-296

विद्या लोगों का गुप्त धन होने से चुराई भी नहीं जा सकती।

विद्या मनुष्य को अनुपम सौन्दर्य-आकर्षण प्रदान करने वाला धन है-

विद्या नाम नरस्य रुपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनम्।
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः॥
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतम्।
विद्या राजसु पूजिता नहि धनं विद्या विहीनः पशुः॥

न चौरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं विद्या धनं सर्वधनप्रधानम्॥

विद्या राजाओं में पूजी जाती है, धन नहीं। विद्या विहीन पशु है। विद्या चोरों के द्वारा चुराई नहीं जा सकती, भाईयों में बाँटी नहीं जा सकती, भारस्वरुप भी नही लगती। जितना व्यय करो उतना बढ़ती ही है। सच ही, विद्याधन सभी प्रकार के धनों में सर्वश्रेष्ठ धन है। आविष्कारक साहित्यकार–कवि–लेखक बनाने वाली होती है–

विद्यया ख्यापिता ख्यातिः –297

विद्या से प्रसिद्धि–यश प्राप्त होता है। ज्ञान के कारण समादृत विद्वानों से राजा का यश सम्मान बढ़ता है तथा राज्य में प्रजा सुसंस्कृत सुमतिपूर्ण बनती है। राजा का विद्यानुरागी होना उसके सुयश को बढ़ाने वाला होता है। राजा विक्रमादित्य की राजसभा में नवरत्नों से राजा और विद्वान् दोनों ही सम्मानित होते थे।

धन–वैभव–शरीर नष्ट होने पर भी यश चिरस्थायी रहता है–

यशःशरीरं न विनश्यति – 298

यशस्वी विद्वान् का यश ही अमर देह है– ''कीर्तिः यस्य स जीवति''। यशस्वी विद्वान् पंच भौतिक देह का अन्त हो जाने पर भी वे यशः शरीर से जीवित रहते हैं–

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥
येषां वैदुष्यविभवो धर्मश्च जगतीतले।
ते नराः निधनं प्राप्य विद्यन्ते नरमानसे॥

राज्य संस्था का यशस्वी विद्वानों से सुप्रभावित रहना ही राजा का यश स्थापित करता है। विद्याप्रेमी राजा अपने नश्वर देह का अन्त हो जाने पर भी अपने राज्य की राजभक्त प्रजा के हृदय पर छाया रहता है। इस से स्निग्ध वे सुकर्मा कवीश्वर लोग जो अपनी रचनाओं से विश्वविजय पा चुके हैं उनके यशः शरीर को वृद्धता तथा मृत्यु का कोई भय नहीं होता। जिनकी विद्वतारूपी लक्ष्मी तथा धर्म की धाक बैठी हुई है उन महामानवों के देह से मर जाने पर भी समाज के श्रद्धालु मानस में अनन्त काल तक जीते हैं।

इन्द्रियों को शान्त रखने की शक्ति ही 'शास्त्र' है–

इन्द्रियाणां प्रशमं शास्त्रम्–300

मनुष्य के मन में विषय भोगों के लगाव को रोकने की शक्ति शास्त्रों में है। मानव रचित शास्त्र ही मनुष्य के हितानुशासी होते हैं। मानव मन की सच्ची शान्ति मानव इन्द्रियों के विजित हो जाने पर ही होती है। मानव धर्म को बताने वाले धर्मशास्त्र ही जितेन्द्रियता उत्पन्न करते

हैं। अध्यात्मानुशासन सम्पन्न होना ही मनुष्यता है। इससे मनुष्य के मन में सदसद्विचार बुद्धि रहती है। जितेन्द्रिय मन ही मनुष्य के लिए प्रत्येक क्षण स्वाध्याय करने योग्य सच्चा ज्ञान खोजता रहता है। शास्त्रों का प्रादुर्भाव उत्कृष्ट मानव मन की उपज ही तो है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ उपनिषद्

जो इन्द्रियों को शान्त रखने वाले शास्त्र का ज्ञाता तथानुकूल व्यवहार करने वाला होता है उसके योग युक्त मन से उसकी इन्द्रियाँ, सारथि के वश में रहने वाले सुशिक्षित अश्वों के समान वश में रहती हैं।

शुचिं भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः॥ भारवि

सदाचारी, अनुभवी विद्वानों के सत्संग में रह कर सीखा हुआ पवित्र शास्त्र सम्पन्न देह वाला सज्जित अलंकृत देह वाला है। अपने काम-क्रोधादि विकारों पर विजय पाकर शान्त रहना शास्त्रज्ञता की अलंक्रियता है। अवसर आने पर अन्याय तथा अत्याचार के विरोध में शूरता दिखाना ही इन्द्रिय विजय से मिलने वाली शान्ति का भूषण है।

अशास्त्रकार्यवृत्तौ शास्त्रांकुशं निवारयति - 301

अवैध कार्य करने की भावना आने पर शास्त्राकुंश, जितेन्द्रिय मन का अंकुश उसे रोक लेता है। इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्पर्क होकर मन में अकार्य करने की उत्तेजना आ जाने पर जितेन्द्रियता रूपी हृदयस्थ जीवित शास्त्र उत्तेजित इन्द्रियों को अपने ज्ञानाकुंश से वशीभूत करके उन्हें कुमार्ग से रोकता है। इन्द्रियों की दुराभिलाषा को रोकने से मन में एक ऐसी अदम्य शक्ति उत्पन्न होती है जो मनुष्य को महापुरुष बना देती है। अपनी शक्ति को दुरुपयोग से रोके रखना मानव को महामानव बना देता है।

नीचस्य विद्या नोपेतव्या- 302

किन्तु नीच की विद्या-शास्त्र ज्ञान नहीं लेना चाहिए। नीच की विद्या नीचता को ही सिखाने वाली होने से अविद्या के नाम से निन्दित-घृणित होती है। वह नीचता को चरितार्थ करने वाली धूर्त विद्या ही होती है। नीच राक्षसों के शास्त्र ज्ञान को देखकर उसके धोखे में नहीं आ जाना चाहिए। श्रेष्ठाचारी उच्च लोगों की विद्या समाज कल्याण का साधक होती है। नीच का शास्त्र ज्ञान दुष्ट के हाथ लगे घातक शस्त्र जैसा मानव समाज की शान्ति के लिए घातक शस्त्र जैसा काम करने में आया करता है। शास्त्रज्ञ दस्यु अशास्त्रज्ञ दस्युओं से अधिक प्रवीणता प्राप्त किए होते हैं।

लेकिन नीच के आक्रमणों से बचने के लिए, उसकी विद्या के दुष्प्रयोग से बचने के लिए जानना चाहिए। कुटिलता, माया, छल, कपट, अनृत, अपहरण, वंचन, स्वार्थ कौशल ये नीचों की गुप्त विद्या हैं। इन्हें जानना तो चाहिए किन्तु अपनाना नहीं चाहिए। नीचता ही नीच का स्वभाव है तथा उसी विद्या के प्रभाव से वह श्रेष्ठ समाज को दुःख पहुँचाया करता है। नीचता भी एक कला है जिसे सर्वसाधारण नहीं पहचानता परन्तु उस पर नीचों को गर्व होता है।

राज्य संस्था के निर्माता विज्ञ लोगों को नीचों के अत्याचारों से बचाने के लिए नीचता की चतुराई को पहचाननें वाली तीक्ष्ण बुद्धि रहनी चाहिए। जो चतुराई नीच वृत्ति वाले असुरों के पास समाज का ध्वंस करने के लिए उद्यत रहती है उसे विफल करने की चतुराई समाज के विज्ञ लोगों के पास पूर्ण प्रखरता के साथ जाग्रत रहनी चाहिए। शस्त्र-शास्त्र दुष्ट नाश के लिए शिष्टों के पास रहना अत्यावश्यक है। नीचों की नीचता का आखेट बनने से बचे रहने के लिए तथा उसका उचित प्रतिकार करने के लिए उसे जानना अत्यावश्यक है।

व्रजन्ति ते मूढ़धियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृतांगान्निशिता इवेषवः॥ किरातार्जुनीयम्

वे असावधान लोग पराभूत हो जाते हैं जो मायावियों के साथ मायापूर्ण व्यवहार न करके सरल तथा उदार व्यवहार करते हैं। परकाय नाशक धूर्त लोग नंगे बदन में घुसकर उसे मार डालने वाले तीक्ष्ण वाणों के समान अपनी मधुरभाषिता से लोगों के आत्मीय बन कर उन्हें नष्ट कर डालते हैं- 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः'। कुटिलों में सीधेपन की नीति नहीं होती।

लेकिन उनकी अश्लील भाषा (गाली-गलौज) न सीखें-

म्लेच्छभाषणं न शिक्षेत्-303

असभ्यभाषण, गन्दी गाली, अपमानकारक, मर्मभेदक वाणी, अश्लील उपन्यास, गल्प, कथा आदि म्लेच्छ भाषण में आते हैं। कुरुचिपूर्ण सुरुचि को नष्ट करने वाला अश्लील गद्य-पद्य साहित्य न पढ़ें। विद्वता की चादर ओढ़े इन कुविद्या प्रचारकों के मन-बुद्धि पर कोई लगाम नहीं होती। ये अधः पतित म्लेच्छ लोग माँ-बहनों पुत्र-पुत्रियों को इस प्रकार का गन्दा साहित्य पढने -पढ़ाने में कोई हर्ज नहीं समझते।

जैसे गन्दा भोजन करने वालों के मुँह से खट्टी डकारें व गन्दी-दुर्गन्धित वायु आती है और दुर्गन्धित अपान वायु निकलती है उसी प्रकार असत् साहित्य पढ़ने से विकृत-अपवित्र विचार उत्पन्न होते हैं। गोमांस खाने वाले तथा सदाचार भ्रष्ट म्लेच्छ सर्वथा त्याज्य हैं।

शिक्षा का मुख्य ध्येय मनुष्यता विरोधी म्लेच्छरुचि, रहन-सहन की रीति नीति को समाज में प्रविष्ट न होने देना है। जब कभी मनुष्य समाज में धार्मिक लोगों का प्रभाव मन्द पड़ जाता है तभी संसार में म्लेच्छवृत्ति बल पकड़ लेती है-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

लेकिन, 'उत्तम विद्या लीजिए यदि नीच पर होय'

म्लेच्छानामपि सुवृत्तं ग्राह्यम्-304

म्लेच्छों से भी सुचरित्र सीख लेना चाहिए। म्लेच्छों में एक ही सुवृत्त पाया जाता है कि वे अपने म्लेच्छभाव का दृढ़ता से पालन करतें हैं। वे अपने म्लेच्छभाव में सुदृढ़ रहने का हठ नहीं त्यागते जैसे भंगी-चमार कंजर, कसाई आदि। अपने स्वभाव में दृढ़ता रहने का हठ ही उनसे सीखने की अनुकरणीय वस्तु है। उनकी दृढ़ता ही उनका सुवृत्त है। म्लेच्छदमन करने के लिए हमारे म्लेच्छ द्वेष में भी म्लेच्छों जैसी दृढ़ता और संगठन होना चाहिए। शठ के साथ शठता का ही व्यवहार करना चाहिए लोहे को लोहे से ही काटना चाहिए।

नीच के ज्ञान का नीच कर्मों में ही उपयोग होता है-

नीचस्य विद्याः पापकर्मणि योजयन्ति-274

नीचों की चतुराईयाँ या पदार्थ विज्ञान आदि कौशल, उनके समस्त बुद्धि वैभव, उन्हें सुजन विनीत, उपकारक न बनाकर उन्हें चोरी, माया-कपट, परवञ्चन, लुण्ठन, अनाधिकार भोग आदि पाप कर्मों में लगा देता है।

नीच लोगों में सुविद्याजनित फल नहीं पाया जाता। मनुष्य को पाप कर्म से न रोक कर पाप करने की कला सिखाने वाली विद्या, विद्या न होकर अविद्या कहलाती है। इस प्रकार के ज्ञान एवं कर्म से मनुष्य पाप कर्म से नहीं बच सकता। शिष्टों के व्यवहार का अंग बनकर उनसे शिष्टाचार, सौजन्य, विनय तथा कर्तव्य-अकर्तव्य विचार सीख कर ही पाप से बचकर गौरव पा सकता है। भागवत् में भी कहा गया है- **सरस्वती ज्ञानखले यथाऽसती।**

विद्वान् खल में उसका ज्ञान उसकी सरस्वती को दुष्टा बना देता है अतः ''नीचस्य विद्या पापकर्मणि योजयति''

नीच की विद्या, उसे पाप कर्म छल-कपट, चोरी आदि कर्मों में लगा देती है।

पयः पानमपि विषवर्धनं भुजंगस्य नामृतं स्यात्-275

जैसे साँप को दूध पिलाना उसका विष बढ़ाना होता है अमृतोत्पादक नहीं, इसी प्रकार नीचों का विद्या लाभ उनकी नीच प्रवृत्तियों को ही अनेक गुणा कर देने वाला हो जाता है।

नीच लोग विद्या लाभ से सुधरते नही अपितु इससे उनकी नीचता को बढ़ावा-प्रोत्साहन मिल जाता है। मनुष्य में मानवोचित कर्तव्यनिष्ठा पैदा करना, विद्या का जो कर्त्तव्य-उद्देश्य है वह नीचों को उनकी नीचता रुपी अयोग्यता के कारण अप्राप्य रहता है। नीचों को विद्या देना तो मानो उनके हाथ में छुरा पकड़ा देना होता है।

विद्या से चरित्र पर जीवन व्यापी प्रभाव पड़ता है- ऐहिकामुत्रिकं वृत्तम्- मानव का चरित्र उसके वर्तमान और भावी दोनों कालों पर अपना अमिट प्रभाव रखता है। मानव का दुष्ट चरित्र नरक और अपयश दिलाता है। उसका सुचरित उसे दोनों कालों में स्वर्ग और कीर्ति देता है इस दृष्टि से सुचरित्र का संग्रह और रक्षा मनुष्य का परम कर्तव्य है। अतः मानव जीवन के सुख-दुःख उसके चरित्र के भले-बुरे होने पर निर्भर करते हैं।

नास्त्यलसस्य शास्त्राधिगमः- 316

पुरुषार्थहीन, आलसी को शास्त्रज्ञान नहीं होता।

शास्त्र पर पूर्ण अधिकार पाने के लिए सुदीर्घ काल तक निरन्तर श्रद्धा, उत्साह तथा गहरी लगन से, सतत् जागृत रह कर उसका विलोढ़न तथा हृदय मन्थन करके ज्ञानामृत निकालना पड़ता है। मनुष्य के मन-बुद्धि में ज्ञान का अपार सागर है किन्तु वह मन्थन रुपी दण्ड से ही हृदय में ऊपर छलकता-तैरता है। प्राप्तव्य ज्ञान के प्रति उदासीनता ही आलस्य है। जितेन्द्रिता से ही वह आलस्य दूर होता है। 'इन्द्रियाणां प्रशमं शास्त्रम्' इन्द्रियों को वश में करके ही शास्त्रज्ञान होता है-

अलसो मन्दबुद्धिश्च सुखी वा व्याधिपीडितः।
निद्रालुः कामुकश्चैव षडेते शास्त्रवर्जिताः॥

आलसी, मन्दबुद्धि, सुखलोलुप, रोगी, निद्रालु तथा कामी ये शास्त्रज्ञान से वर्जित हैं।

आलस्याद् बुद्धिमान्द्यं च आलस्यात्कार्यवैक्लवम्।
आलस्यादवनतिश्चैव गौरवं तेन नश्यति॥

आलस्य से बुद्धि की मन्दता, कार्य की हानि तथा अवनति होती है। उससे गौरव नष्ट होता है। इसलिए उन्नति कामी लोग सदा निरलस रहें।

भूषणानां भूषणं सविनया विद्या-368

सब भूषणों में श्रेष्ठ भूषण सविनया विद्या है।

मनुष्य को विनीत, नम्र, सुजन, सुव्यवहारी, बनाने वाली विद्या संसार के समस्त भूषणों से श्रेष्ठ भूषण है। विद्या के भूषण से वञ्चित रहना निरी मूर्खता ही है। मनुष्य भले ही कितने आभूषण पहन ले लेकिन वे सब केवल सौन्दर्यवर्धक न होकर केवल भार स्वरुप ही होते हैं। मन की मूर्खता मिटा डालने वाली विद्या ही उसे विभूषित करने वाला सच्चा भूषण है। जो विद्या मनुष्य की मूर्खता नहीं मिटा पाती वह सच्ची-वास्तविक विद्या नहीं है।

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम् ॥ विष्णु शर्मा

विद्या से विनय, विनय से योग्यता, उससे धन, उससे धर्म तथा उससे सुख प्राप्त होता है। निर्दोष वैदुष्य सम्पन्न कार्यकुशल लोग ही राजकार्य में नियुक्त होने चाहिए, नहीं तो राज्यसंस्था लूट का अड्डा बन जायेगी।

न संसारभयं ज्ञानवताम्-564

ज्ञानी व्यक्तियों को संसार में दु:ख-भय नहीं रहता।

ज्ञान स्वयमेव भयरहित सुखमय स्थिति है, अज्ञान ही दु:खों का कारण होता है। दु:खनिवृत्ति की कला ही तो ज्ञान है। सुख दु:ख के स्वरुपों को न समझना ही तो अज्ञान है। अज्ञानी मानव धन-दौलत को ही सुख मानकर दु:ख का वरण कर बैठता है। ज्ञानी सुखेच्छा को भी त्याग देता है और निष्काम-अनासक्त रहकर ही स्वकर्तव्य पालन से सन्तोष रुपी सुख का अधिकारी बनता है। भोगासक्ति का जीवन त्याग देने वाले ज्ञानी व्यक्ति को संसार बन्धन में बंध जाने का भय नहीं रहता क्योकि उसे स्वदेह-गेह में ममत्व नही रहता। अहं भाव और ममत्व भाव ही भय का कारण होता है। ''अधरोत्तरमस्तु जगत् का हानिवीतरागस्य''- संसार चाहे उल्टपुल्ट हो जाए वीतरागी का क्या बिगड़ता है।

संसार के पदार्थों में न उलझना ही उसकी मुक्ति है और यही उसकी ज्ञानमयी स्थिति भी। फलाकांक्षा ही उलझन या आसक्ति है। वह अपने को भौतिक फल की आशा रुपी रस्सी से कभी बंधने नही देता।

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा यश्चरते मुनि:।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्॥

जो सब प्राणियों को अभय दान देता है उसे किसी से भी भय नहीं रहता।

ज्ञानदीपक से संसारान्धकार का विनाश
विज्ञानदीपेन संसार भयं निवर्तते-565

ज्ञानी पुरुष अपने मन को ब्रह्मानन्द रुपी दीपक से आलोकित करके रखता है और संसार के अन्धकार में भटकने से बच जाता है।

ज्योतिर्मय भगवान् का आलोक समस्त संसार को आलोकित किए हुए है। भगवद् दर्शन से मिलने वाली सुखशान्ति अन्यत्र किसी भी सांसारिक पदार्थ में उसे नहीं मिलती।

सारा संसार ही अनित्य है
सर्वमनित्यं भवति- 566

सम्पूर्ण भौतिक सुख तथा उसके समस्त साधन अनित्य हैं।

ज्ञानवान् मनुष्य को अपने को अदेह रुप में अनुभव कर लेने पर जगत् के समस्त भोग्य

पदार्थ अनाकर्षक अनित्य-अध्रुव दिखने लगते हैं। सत्यनारायण से एकाकार होने पर सम्पूर्ण जगत् निष्प्रयोजन हो जाता है।

देहासक्ति ही मानव का अज्ञान

स्वदेहे देहिनां मतिर्महती।- 566 (क)

देहधारियों को निजदेह में बड़ी आसक्ति होती है।

देहासक्त मनुष्य दैहिक सुख को ही जीवन का लक्ष्य बना लेता है। मनुष्य को यह ध्यान रखना चाहिए कि सुख साधन-धन संग्रह केवल जीवन का लक्ष्य न बने, नहीं तो मनुष्य विलास सामग्री की छीना-झपटी शुरु कर देगा, लेकिन आजकल यही कुछ होने लगा है। मनुष्य को ऊपर-ऊपर से मीठी मधुर लगने वाली यह प्रवृत्ति राष्ट्रहित में नही है। आपात् रमणीय लगने वाले ये भोगपदार्थ लूट-खसोट से नहीं अपितु स्वार्जित धन से ही भोगे जाएँ तो उचित है।

वाणी

जिह्वायतौ वृद्धिविनाशौ-440

मनुष्य के वृद्धि-विनाश उसकी जिह्वा (की सुवाणी अथवा कुवाणी) पर निर्भर करते हैं

ये जबान ही पान खिलाती है या पनही (जूता)। यदि मनुष्य अपने सहकर्मियों से सम्मान पूर्वक बोलता-व्यवहार करता है तो उसकी वृद्धि-विकास होता है और यदि वह उनसे अभद्र शब्दावली-अपशब्द बोलता है तो उसका विनाश होता है। मनुष्य के वृद्धि-विनाश वाणी के सदुपयोग-दुरुपयोग पर ही निर्भर होते हैं। मनुष्य के कुवचनों से हानि व मधुरवचनों से कार्य में सुकरता होती है अत: जिह्वा का संयम रखें।

वाङ्माधुर्यात् सर्वलोक प्रियत्वम्।
वाक्पारुष्यात् सर्वलोकाप्रियत्वम्।।

मधुरभाषी सभी का प्रेमपात्र होता है लेकिन वाणी की कटुता-कठोरता गधे के रेंकने अथवा कुत्ते के भौंकने के समान, मनुष्य को सभी की घृणा का पात्र बना देती है।

इस सूत्र में जिह्वा अन्य इन्द्रियों का भी उपलक्षण है। जिह्वा के समान अन्य इन्द्रियों का संयम का अभाव-चंचलता भी मनुष्य की वृद्धि अथवा विनाश करने वाली होती है।

विषामृतयोराकारो जिह्वा -441

जिह्वा विष या अमृत की भण्डार (आकर-खान) होती है।

मनुष्य अपनी मनस्थिति के अनुसार ही वाक्योच्चारण करता है। शान्त मन से शान्तिकारक मधुरवचन बोलता है और अशान्त मन से उद्वेगजनक-अशान्ति पैदा करने वाले शब्द उत्पन्न होते हैं।

बाण का घाव फिर भी भर जाता है लेकिन वाणी का घाव कभी नहीं भरता । इस प्रकार शान्तवचन के लिए मनोभाव भी शान्त ही होने चाहिए। शान्त वचन से बाह्य जगत् में व्याप्त अशान्ति भी थम जाती है तथा वक्ता की भी मानसिक स्थिति सुरक्षित हो जाती है। शान्ति से ही झगड़े मिटते हैं अशान्ति से वातावरण में आग मानों व्याप्त हो जाती है।

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तया विद्धं न संरोहति वाक्क्षतम्॥

वाणों के घाव तो भर जाते हैं, परशु-कुल्हाड़े से काटे वन-वृक्ष फिर उग आते हैं लेकिन वाणी का घाव कभी नहीं भरता।

प्रियवादिनो न शत्रुः -442

प्रियवादी का कोई शत्रु नहीं होता।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात् तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥

प्रिय वाक्य बोलने से सभी प्राणी सन्तुष्ट होते हैं। इसी कारण वही कहना चाहिए, प्रिय वचन कहने में क्या कमी-दरिद्रता?

हितवाक्यप्रयोक्तुश्च दातुश्चैवोपकारिणः।
साधोर्बालस्य जगति रिपुर्नैव प्रदृश्यते॥

हितकर वचन बोलने वाले, दानी, उपकारी साधु तथा बालक का संसार में (दुष्टों को छोड़कर) कोई शत्रु नहीं होता। मलिन मन वालों के ही काम-बात, क्रोधादि मनोविकार ही मनुष्य के मूल शत्रु हैं। मनोमालिन्य जिह्वा से प्रकट होकर सर्वत्र व्याप्त हो वातावरण को भी मलिन-अपवित्र बना देता है। निर्वैर भाव से बोले वचन सत्य व हित को प्रकट करते हैं तथा समाज का हित सम्पादन भी करते हैं। उसके वचन प्यार की राह पर चलाने वाले होते हैं-

प्यार की राह दिखा दुनिया को।
मोड़ दे जो नफरत की आँधी॥

मनुष्य की जो दूसरों से शत्रुता ठनती है, वह ही वास्तव में मनुष्य-समाज की शान्ति को भंग करने वाली होती है। दुष्टों के अहितकर-अपमानजनक कटु-अयथार्थ-उत्तेजक वचन ही पावक सम दाहक होते हैं। श्रीमद् भागवद्गीतानुसार- 'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्' इसी प्रकार की वाणी से मनुष्य निर्वैर की स्थिति को प्राप्त होता है। संसार में मनुष्य कठिनाई से ही निर्वैर की स्थिति में रह पाता है क्योंकि ज्ञानी के भी अज्ञानी ही वैरी बन जाते हैं और उनका सीधा सरलपन भी उन्हें दुष्टों के दुष्प्रभाव से बचा नही पाता।

मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षाः मित्रोदासीन शत्रवः॥
पञ्च तवानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः॥ (विदुर)

अपनी मुनिवृति में लगे हुए एकान्तवासी मुनि के भी मित्र, उदासीन और शत्रु-तीनपक्ष उत्पन्न हो जाती हैं। तू जहाँ कहीं भी जायगा वहीं मित्र, शत्रु, मध्यस्थ-उपजीव्य और उपजीवी

तेरे पीछे चलेंगे। ज्ञानी पुरुष अपने हितकर वचनों से सम्पूर्ण समाज का मित्र बना रह कर समाज के शत्रुओं को पराभूत करता रहता है।

स्तुतापि देवास्तुष्यन्ति-443

मुधर वचनों की महिमा बताने में यह लोकोक्ति कही गई है कि स्तुति से तो अदृश्य देवता भी प्रसन्न होकर प्रार्थी की मनोकामना पूरी कर देते हैं, मनुष्य का तो कहना ही क्या?

शक्तिशाली समर्थ पुरुष के कानों में पड़ा हुआ उसका गुणगान उसे आकृष्ट करने वाला होता है। समाज के श्रेष्ठतम व्यक्तियों के वास्तविक गुणों का गान करना सच्ची लोक कल्याणकारिणी सेवा है। वाक्चातुरी दोष या अपमान की बातें सुनकर श्रोता के मन में वक्ता के प्रति अप्रीति और उद्वेग पैदा हो जाता है। दूसरों की प्रशंसा से उन्हें खुश करने की योग्यता से वे पण्डित- विद्वद्जन- ज्ञानी श्रोताओं को अपने अनुकूल बना लेते हैं।

अनृतमपि दुर्वचनं चिरं तिष्ठति-444

दुर्वचन तो द्वेषोत्पादक होता ही है लेकिन साथ ही निराधार-अनृतदुर्वचन भी श्रोता की स्मृति पर चिरकाल तक अपना द्वेष पूर्ण हानिकारक दुष्प्रभाव बनाए रखता है।

सन्ताप पहुँचाने की दुर्भावना से किसी को साधार दुर्वचन कहना भी अनुचित है और फिर निराधार दुर्वचन तो कभी किसी को कहना ही नहीं चाहिए। साधार दुर्वचन-कटुसत्य कहना भी पड़े यदि तो भी उसकी मर्यादाओं का पालन तो करना ही चाहिए। यदि कटु-कठोर वचन किसी अपराध की भर्त्सना रुप हो और उचित मर्यादा में हो तो वह कल्याणकारी होता है। कर्तव्यवश अपराधबोध कराने के लिए सन्तापकारी वचनसे अपराधी श्रोता को आत्मसुधार का अवसर दिया जाता है। इससे भर्त्सना के शब्द उसे विद्रोही नहीं बनाते अपितु आत्मशोधन के लिए कहा कटुशब्द भी अमृत हो जाता है। मिथ्यारोप वाला दुर्वचन-कटुवचन श्रोता को वक्ता से बदला लेने के लिए उत्तेजित करता है।

दुर्वचन स्वयं एक महापराध है। दुर्वचन का उद्देश्य तथा परिणाम कलह है। वक्ता का उद्देश्य ही उसके वचन के सत्यासत्य की कसौटी होता है। शुभ उद्धेश्य से कर्तव्यवश कहा गया वचन सत्य की परिभाषा में आ जाता है। कलह के उद्देश्य से उच्चारित प्रत्येक वाक्य मिथ्या-अनुचित होता है। अपने हृदय के क्रोध से कलुषित उच्चारित वचन असत्य-अनुचित की छाप से ग्रस्त होता है। शरीर, मन या वचन से किसी के असत्य का पालन न करना ही मनुष्य की सत्य निष्ठा है। अपने मन-वचन-कर्म तीनों को ही मर्यादा से न निकलने देना कर्तव्य निष्ठा है और इन तीनों को ही ढ़ीला छोड़ देने से ही जीवन निष्फल हो जाता है। मन में उत्पन्न होने वाले क्रोध आदि रिपुओं को दबा कर रखना ही ज्ञानी की कुशलता है।

वचन तो अपने मन-तन की शान्ति तथा समाज के सुख-चैन के लिए बोला जाना चाहिए। सन्ताप कारक वचन तो बोले ही नहीं जाने चाहिए। कठोर वचन तो वह स्फुलिंग है

जो दाहक होने से व्यक्ति को जला डालता है। सन्तापकारक वचन दूसरों को झुलसाने से पहले स्वयं वक्ता को भी झुलसा देता है। अपना क्रोध व्यक्त करने के लिए वचनों के भाव बोलने वाले की आत्मा को पहले ही झुलसा चुके होते हैं।

दुर्वचन वास्तविकता के आधार पर हो या न हों यह दोनों ही परिस्थितियों में उद्देश्य की कठोरता के कारण श्रोता को दुःखी करने वाला होता है जैसे अन्धे को अन्धा कहने पर उसकी विकलांगता पर कटाक्ष होने से अन्धे को कष्ट पहुँचता है। साथ ही, समाज के द्वारा उसे निन्दित किया जाना, समाज के लिए भी आक्षेप है, दोष है। ऐसे सत्याधारित दुर्वचनों से भी वक्ता-श्रोता किसी का भी उपकार नहीं होता। ऐसे दुर्वचन सदा ही परिहार्य होते हैं 'मा दुरुक्ताय स्पृहेत्'। दुर्वचनों को जो अपने को (वक्ता को) कष्ट पहुँचाए तथा श्रोता को भी कष्ट पहुँचाए, बोलना मूर्खता है।

मनुष्य को सोचना चाहिए कि उसका हित केवल अपने से ही सम्बद्ध नहीं किन्तु उसका हित दूसरों के हित के साथ अविभाज्य रुप से पूर्णतया सम्मिलित है। क्रुद्ध होकर बोला गया वचन पहले तो वक्ता के हृदय पर आघात करता है उसके पश्चात् क्रोध का पात्र बने हुए व्यक्ति के हृदय पर। दुर्वचन वक्ता-श्रोता दोनों के लिए ही अनिष्टकारी है। साधार-निराधार दोनों ही अवस्थाओं में वातावरण की अशुद्धि-अपवित्रता के कारण किसी का हित नहीं है। पारस्परिक सम्बन्ध तो कटु होते ही हैं सदा-सदा के लिए पूरे परिवार में सम्बन्ध विच्छेद व बदला लेने के लिए हिंसक वृत्ति भी जन्म लेती है। अतः वचनों की मधुरता ही मधुर वातावरण को पैदा करती है।

इस सूत्र में सत्पुरुषों को ही अनिष्टकारी वचनों से रोका जा रहा है असत् पुरुषों को नहीं जैसे क्रुद्ध मुनि के द्वारा शाप का दिया जाना। वस्तुतः असत् पुरुषों का दण्ड के अतिरिक्त कोई विधि-विधान नहीं होता। सत्पुरुष अनिष्टकारी आचरण पर उत्तेजित होकर उसे रोकना चाहते हैं। किन्तु दुष्ट उसे और अधिक और अधिक ही करता जाता है सत्पुरुष को उत्तेजित करने के लिए और परिणामतः अपराधी के रुप में दण्ड़ित ही किया जाता है। प्रतिहिंसा की प्रवृत्ति वचन मात्र से नहीं रुकती। अपितु दुष्प्रवृत्तियों का चक्र चल पड़ता है। कटुता-कलह का बीज और गहरा-पक्का जम जाता है।

समाज सेवा, समाज कल्याण की दृष्टि से सत्य को प्रकट कर अपराधी के अपराध को सिद्ध करने के लिए भी कटाक्ष कभी नही करना चाहिए। नीच को नीच मत कहो उसका तिरस्कार करने के लिए। पादाघात से उठी धूल सिर पर ही बैठती है। **पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति**, धूल की भांति नीच भी प्रताडित किए जाने पर और अधिक सिर पर सवार हो जाता है। अपराधबोध होने पर आत्मबोध-चेतना जागृति से ही व्यक्ति दुष्कर्म से रुकता है, अन्यथा नहीं।

राजद्विष्टं न च वक्तव्यम्–445

राजा पर अप्रिय आरोप नहीं करना चाहिए। राजा या उसके प्रतिनिधि को भी अप्रिय वचन नहीं कहना चाहिए।

राजा को प्रजा की सामूहिक शक्ति के रुप में देखना और उसके साथ भद्र व्यवहार करना चाहिए क्योंकि राजा के पास प्रजा की सामूहिक शक्ति केन्द्रित रहती है इस कारण राजरोष मानवरोष से सहस्त्रों गुणा अधिक होता है। अतः राजा के प्रति बोले गए अप्रियवचनों से राजा के मन में वक्ता के लिए महा अनिष्टकारी रोष पैदा होकर निश्चित रुप से हानिकारक होगा। इसलिए राजशक्तिवालों के साथ सुविचारित सुसभ्य वाग् व्यवहार होना चाहिए। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य औरों के साथ अप्रिय भाषण करे। राजा के ही समान देव–द्विज–गुरु–साधु–नारी महापुरुष तथा परिचित अपरिचित सभी लोगों के साथ संयत संभाषण करे।

इस सूत्र से राजकार्यो के विरुद्ध असभ्य समालोचना, उसके भावी कार्यों पर निराधार दोषारोपण या राजनियमों का उल्लंघन आदि का भी निषेध समझना चाहिए। इस प्रकार के अभद्र शालीनता रहित व्यवहार से राजा–प्रजा दोनों की ही हानि होती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजव्यवस्था में दुर्नीति निन्दनीय होती है परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि इस दुर्नीति का जिम्मेदार अकेला राजा ही नहीं होता अपितु राजा का भृत्यवर्ग भी। राजा स्वयं आपनी इच्छा से तो राजा नहीं बन जाता है। वह राष्ट्र की ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्मति से राज्य संचालन भार ग्रहण किया करता है। यदि कोई राष्ट्र (Govt.) अपनी सम्मति का या शक्ति का दुरुपयोग करके किसी अयोग्य व्यक्ति को राजसिंहासन पर बैठा दे उस राजकीय अयोग्यता का अपराधी स्वयं राष्ट्र होता है। योग्य राजा का चुनाव करना तथा उसे योग्यतापूर्वक शासन करने के लिए विवश करना राष्ट्र का ही कर्तव्य है। राष्ट्र तो राजा को ठीक रखने का उत्तरदायी है और राजा का कर्तव्य राष्ट्र को ठीक रखना हैं यह उभयपक्षीय राष्ट्रीय कर्तव्य है। यदि राजा अयोग्य है तो समझना होगा राष्ट्र असंशोधित रहेगा तब तक राजसिंहासन पर अयोग्य लोग ही राज्य करते रहेंगे।

औषधप्रयोग रुग्णस्थल पर किया जाता है। इस दृष्टि से अयोग्य राजा के व्यक्तित्व पर क्रोध दिखाना राष्ट्रसेवा न होकर राष्ट्रद्रोह है। जब तक राजा राष्ट्र की सम्मति से राजसिंहासन पर बैठा हुआ है तब तक उसके व्यक्तित्व पर किसी भी प्रकार का आक्रमण करना राष्ट्र में अशान्ति उत्पन्न करने वाला हो जाता है। अतः राष्ट्र की उस मानविक व्याधि की चिकित्सा की जानी चाहिए जिसने अयोग्य शासक को राजसिंहासन पर बैठा रखा हो।

श्रुतिसुखात्कोकिलालापात् तुष्यन्ति-446

जैसे मनुष्य श्रवणसुख, कोकिलालापों से तृप्ति अनुभव करते हैं, इसी प्रकार विज्ञ लोग राजाओं या राज्यधिकारी उच्च पदासीन लोगों को श्रुतिमधुर सत्यानुमोदित वाक्यों से सन्तुष्ट रखें और अपने कामों में विघ्न उपस्थित न होने दें।

अयोग्य राजा के साथ वार्तालाप करने की आवश्यकता पड़ने पर या उसकी अयोग्यता पर कटाक्ष करने के लिए चुभने वाली बात कह कर उसे क्रुद्ध कर देना हानिकारक है। इस सूत्र में कोकिला के कण्ठ का उदाहरण इसलिए दिया गया कि जब मनुष्य के कण्ठ में श्रोता के कानों को मधुर शब्द सुनाने का सामर्थ्य है तो, उसका दुरुपयोग क्यों किया जाय। कान सदा मधुर शब्द के ही प्यासे होते हैं। इसलिए वचनों में कभी कटुता न आनें दे। ज्ञानी सदा सत्यप्रिय होता है अत: राजा को सत्य वचनों से तृप्त किया जा सकता है। अयोग्य राजा को भी अकारण रुष्ट न करके उसे तात्कालिक वाक्चातुरी से तृप्त करना ही बुद्धिमत्ता है। देवता भी भक्तों के द्वारा स्तुतिगान से रिझाए जाते हैं।

निहन्ति दुर्वचनं कुलम्-487

दुर्वचन से कुल के गौरव का नाश हो जाता है।

'पहले तोलो फिर बोलो' का कथन सार्थक है। दुर्वचन अपनी तथा अपने कुल की शोभा को नष्ट करने वाला होता है। दुर्वचन से अभिप्राय कटु-कठोर-असत्य वचन के साथ अपशब्द-भद्दे शब्द, गाली-गलौच से भी अभिप्राय है। लाचार व्यक्ति को कोई उपाय-राह नहीं सूझती तो अपने बचाव के लिए दूसरे को गालियाँ देने लगता है। यही तो उसकी असत्यता का प्रबल प्रमाण होता है। वैसे भी Words and works reflect the person का कथन अक्षरश: सत्य है। शब्द ही व्यक्ति की पहचान है। इन्हीं शब्दों के प्रयोग से व्यक्ति 'पान' पाता है अर्थात् सम्मान पाता है और इन्हीं शब्दों के प्रयोग से 'पनही'- जूते खाता है, अपनी बेइज्जती करवाता है।

दुर्वचन वक्ता के कुल को कलंकित कर देता है। वचन की निर्दोषता ही मनुष्य के उच्च कुल का प्रमाण है। दुर्वचनी लोग अपने कुल की महिमा-गरिमा कलंकित करते हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व उसकी शब्दावली से व्यक्त होता है। कुल की मान-मर्यादा को ध्यान में रखते हुए अपशब्द न बोलें। अपशब्दों के प्रयोग से अपनी दुर्जनता तथा मनोमालिन्य ही प्रकट होता है। अत: 'न दुरुक्ताय स्पृहेत'।

स्वास्थ्य

धृत्या जयति रोगान्–213

धृति से, अर्थात् मन–प्राण–इन्द्रियों को वश में रखने से रोगों पर विजय पाई जा सकती है। काम–क्रोधादि मनुष्य के मानसिक रोग हैं और इनसे उच्चरक्तचाप व मधुमेह आदि रोगों की सम्भावना रहती है। त्रिदोषों–वात–पित्त–कफ– की विकृति शारीरिक रोग हैं। इन्हीं शारीरिक रोगों से भी मानसिक रोग आ घेरते हैं। मन को सदा काम–क्रोधादि वासनाओं से मुक्त रखने वाला धैर्यशाली–जितेन्द्रिय अपने देह को रोगाक्रमण से मुक्त रखकर सुखी–निरोगी रह सकता है।

आधुनिक आयुर्विज्ञान में यह स्पष्टत: सिद्ध हो चुका है कि रोगों के कारण शारीरिक होने के साथ मानसिक भी होते हैं। मन का सारे शरीर पर प्रभाव पड़ता है। मानसिक चिन्ताएँ और तनाव शरीर के स्नायुमण्डल पर उत्तेजना के कारण बुरा प्रभाव ड़ालते हैं जिससे शरीर के प्रमुख अंग विकार ग्रस्त होकर उच्च रक्तचाप, नाडी–दौर्बल्य, हृदय–रोग, मधुमेह, आंत्रशोथ, कैंसर जैसे भयानक रोगों से पीड़ित हो जाते हैं। अधिकतर हृदयरोगी मानसिक तनाव के ही शिकार होते हैं। अत: धैर्य, मन को और तन को साधने और रोग मुक्त रखने का अपूर्व उपाय है।

दुश्चिन्ताएँ शरीर को रोगाक्रान्त करके खोखला कर देती हैं। विद्वानों का कथन उचित ही है–

चिता–चिन्ता द्वयोर्मध्ये चिन्ता एव गरीयसी।
चिता दहति निर्जीवं चिन्ता प्राणै: समं नरम्॥

अत: चिन्ता न करके धैर्य धारण करना ही एक मात्र उपाय है।

मितभोजनं स्वास्थ्यम्–218

सीमित भोजन स्वास्थ्यकर होता है।

जठराग्नि तो मानो बडवाग्नि है। उसमें जो कुछ डालो सभी कुछ भस्मसात् हो जाता है किन्तु अनेक विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे हवन कुण्ड में ठूंस–ठूंस कर भरी गई लकड़ियाँ अधजली रह जाती है और धुआँ भी अधिक करती हैं तथैव ठूंस–ठूंस कर भरा हुआ भोजन अधपचा रह जाता है और गैस–अफारा–डकारें बेचैनी पैदा करता है। चरक संहिता में

भी स्वास्थ्यप्रद भोजन के लिए बताया गया है- उष्णम् अश्नीयात्, उष्णं भुज्यमानं हि स्वदते, सुष्ठु परिणमति, क्षिप्रं परिहीयते। अर्थात् गर्म ताजा भोजन खाओं। गर्म खाने से स्वादिष्ट लगता है ओर शीघ्र ही पच जाता और भली प्रकार उसका परिपाक हो कर रस-रक्त आदि बनता है।

यह मानव देह रुपी यन्त्र अन्न-जल रुप ईंधन से चलता है। भोजन का ईंधन ही इस यंत्र को चलाता है। भोजन जिह्वा के स्वाद के लिए नहीं अपितु उदर के लिए स्वास्थ्य कर होना चाहिए। जिह्वा के स्वाद के लिए खाया गया मिर्च-मसाले वाला तथा अपरिमित मात्रा में खाया गया गरिष्ठ भोजन हितकर नहीं होता। जिह्वा तथा गला, उदर की भाषा नहीं समझता है अतः उदर पूर्ति के लिए केवल सीमित एवं स्वास्थ्यकर भोजन ही करें केवल स्वास्थ्य की दृष्टि से ही भोजन करें स्वाद की दृष्टि से नहीं।

भोजन की परिमाण-मात्रा शरीर की आवश्यकतानुसार होनी चाहिए। अपरिमित भोजन शारीर के लिए घातक हो सकता है, पालक नहीं। असीमित भोजन विषतुल्य अनिष्टकारी होता है। शारीरिक श्रम करने वाले पहलवान अथवा श्रमिक भले ही अधिक मात्रा में खाया हुआ पचा ले लेकिन बौद्धिक-मानसिक कार्य करने वाले तथा बच्चे-बूढ़े-बीमार व्यक्ति, अधिक मात्रा में खाया हुआ तथा गरिष्ठ भोजन नहीं पचा सकते। अतः अपने उदर के अनुकूल पाचन तन्त्र को परेशान न करने वाला ही भोजन करें।

असंयत भोजी आलस्य एवं रोगों से घिर जाता है तथा कर्तव्यविमुख भी हो जाता है। अतः स्वादेन्द्रिय का दास न बनकर मनुष्य विचार शक्ति अभिमुख होकर प्रभु का प्रसाद मात्र समझकर सीमित मात्रा में ही भोजन करे।

निरोग रहने का उपाय

जीर्ण भोजिनं व्याधिर्नोपसर्पति-220

जीर्ण भोजी के पास व्याधि नहीं फटकती।

पिछला भोजन पच जाने पर ही, क्षुधा के उद्दीप्त होने पर ही मनुष्य भोजन करे। भोजन के नियमित-निश्चित काल से पूर्व, बिना भूख भी लघु कलेवा करना या पशुवत् कुछ-कुछ खाते रहना, मुँह चलाते रहने से मुखशुद्धि भी नहीं रह पाती एवं मुँह दाँतों-मसूड़ों से दुर्गन्ध भी आने लगती है और सामने बात करने वाले को भी अच्छा नहीं लगता। आयुर्वेद में कहा गया है-

जीर्णे तु भोजनं कुर्यान्नाजीर्णे तु कथञ्चन।
अपक्व भोजिनं व्याधिः समाक्रामति निश्चितम्॥

स्वस्थ रहने के लिए व्यक्ति भोजन के जीर्ण हो चुकने पर ही भोजन करे। अपक्व भोजी पर व्यधियों का आक्रमण सुनिश्चित ही होता है। आयुर्वेदानुसार ऋतु परिवर्तनानुसार भोजन में परिवर्तन करते हुए जीर्णभोजी ही रहना चाहिए। असमय भोजन भी त्यागना चाहिए-

अप्राप्तकाले भुञ्जानोऽप्यसमर्थतनुर्नरः।
तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं चाधिगच्छति॥

भोजन के निश्चित समय से पूर्व भोजन करने वाला मनुष्य निर्बल हो जाता है। उसे अनेकानेक व्याधियाँ आ घेरती हैं और वे बढ़ते-बढ़ते मौत का कारण बन जाती हैं।

क्षुत्संभवति पक्वेषु रसदोषमलेषु च।
काले वा यदि अकाले सोऽन्नकाल उदाहृतः॥

रस दोषों का परिपाक हो चुकने पर जब भूख लगती तभी वह भोजन का उचित समय है।

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः।
लघुता क्षुत्पिपासा च यदा कालः स भोजने॥

उद्गार-डकार ठीक प्रकार से आने लगे, चुस्ती-फुर्ती हो, मलमूत्र का यथोचित निस्सरण हो चुका हो, शरीर में लघुता-हल्कापन हो, भूख-प्यास हो- ये सब भोजन काल के रस परिपाक के लक्ष्ण हैं।

वार्धक्य में व्याधि की उपेक्षा न करे
जीर्णशरीर वर्धमानं व्याधिं नोपेक्षेत-221

रोगी, वृद्ध, जीर्ण रोगी के निर्बल देह में बढ़ती व्याधि की उपेक्षा न करे। देह में व्याधि उत्पन्न हो जाने पर विपरीत आहार न ले तथा शरीर को अपथ्याहार से बचाए। रोग को निर्मूल करना ही मनुष्य के लिए तात्कालिक उपचार है। आलस्य वश व्याधि को तुच्छ समझ कर उपेक्षा करना हितकर नहीं।

यह देह संसार सागर को पार करने की छोटी सी नौका है। इसके द्वारा मनुष्य को सभी प्रकार के धर्मपालन करने हैं- 'शरीरमाद्यं खुल धर्म साधनम्' ऐसा महाकवि कालिदास का भी कथन है। शरीर को सक्षम बनाकर सर्वविध-आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक सर्वविध कर्तव्यों का पालन करना होता है। कहा भी गया है-

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥

आरोग्य ही धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष-चारों पुरुषार्थों का साधन है। रोग मनुष्य के आरोग्य, कल्याण, तथा जीवन तीनों का अपहरण करने वाला है। इसलिए पथ्यसेवन तथा औषधोपचार से रोगों का शमन करके देह को कार्य सक्षम बनाए रखे।

अजीर्ण में भोजन से हानि

अजीर्णे भोजनं दु:खम्-222

अजीर्ण में भोजन करना दु:खकर होता है।

अजीर्ण भोजन तन, मन, धन सभी के लिए विकृत-अपव्यय-घातक होता है। किन्तु जीर्ण-पचा हुआ भोजन

आहार: प्रीणन: सद्यो बलकृद्देहधारण:।

स्मृत्यायु: शक्तिवर्णौज: सत्वशोभाविवर्धन:॥

जीर्ण भोजन प्रसन्नताजनक, बलवर्धक, देहधारक, स्मृति; आयु, शक्ति, वर्ण, ओज, सत्व तथा कान्ति को बढ़ाने वाला होता है। और अजीर्ण में वही भोजन विषतुल्य हो जाता है।

शत्रोरपि विशिष्यते व्याधि:- 223

व्याधि शत्रु से भी अधिक हानिकारक होती हैं।

व्याधि शरीर का महाशत्रु है। शत्रु तो बाहरी रुप से आकर धन-माल पर कब्जा करता है किन्तु व्याधि देहस्थ होकर तन-मन-धन सभी का सफाया कर डालती है। 'मृत्कल्पा: हि रोगिण:' 'रोगी को बीमारी अधमरा कर डालती है। 'न च व्याधिसमो रिपु:' बीमारी जैसा शत्रु कोई नहीं। अत: हित-मित भोजन ही स्वास्थ्यकर हैं।

पथ्यमप्यपथ्याजीर्णे नाश्नीयात्- 219

अपथ्य के कारण अजीर्ण हो गया हो तो पथ्य को भी त्याग देना चाहिए।

न दिवास्वपनं कुर्यात्-510

दिन में सोने से हानियाँ ही हानियाँ हैं- समय हानि, कार्य हानि, शरीर की शिथिलता एवं वायुदोष, अग्निमान्द्य, शिरोरोग, आयुह्रास होता है। छोटे बालक, रोगी तथा रात में जागकर काम करने वाले लोग दिन में सो सकते हैं। आयुर्वेद में 'आयु: क्षयी दिवा निद्रा' कहा गया है दिवानिद्रा आयुनाशक होती है। महाभारत में कहा गया है 'दिवाशया न मे पुत्रा: न रात्रौ दधि भोजिन:' मेरे पुत्र दिन में सोते नहीं है और रात्रि में दही नहीं खाते।

वस्तुत: स्वास्थ्य की दृष्टि से इस सिद्धान्त का पालन किया जाना चाहिए- An early to bed and early to rise, makes a man healthy wealthy and wise.

देर रात तक जागना, क्लब जाना, खाना पीना, नाच-गाना मौजमस्ती और सुबह देर तक सोना अनुचित-हानिप्रद, रोगकारी हैं।

निन्दित आहार

मांसभक्षणमयुक्तं सर्वेषाम्-563

मांस मनुष्य का आहार-योग्य पदार्थ नहीं हैं

निरामिष व सामिष दो प्रकार के प्राणी होतें हैं। प्रकृति में अन्न, शाक-फल, कन्द-मूल पत्ते आदि वानस्पतिक आहार को मनुष्य का स्वाभाविक आहार बताया गया है। वानस्पतिक आहार के सम्मुख प्राणिज आहार अनुपयुक्त है। मानव के दयालु स्वभाव के लिए जीव हत्या अनुचित है-

जीवितं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यत् यदात्मनि चेच्छेत् तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥

जो मनुष्य स्वयं जीना चाहे वह किसी दूसरे को कैसे मारे? मनुष्य जो अपने लिए चाहे वह दूसरों के लिए भी सोचे।

स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं महत्॥

वन में स्वच्छन्द उपजे साग पात से भी पेट भर जाता है। उसके लिए कौन बुद्धिमान् इस क्षुद्र पेट के लिए दूसरे प्राणियों के प्राणहरण का पाप मोल लेगा?

वानस्पतिक भोजन की स्वास्थ्यप्रदता स्पष्टतः देखी जा सकती है सात्विक आहार की अपेक्षा प्राणिज आहार लेने से मनुष्य अपने उदर को रोगस्थली बना लेता है। स्वास्थ्य व रुचि की दृष्टि से बूढ़े-रोग ग्रस्त पशुओं को अपने शरीर में भरना समुचित नहीं है। निरामिष भोजन ही आयुवर्धक सात्विक भोजन है।

प्रकृति-सृष्टि ने जिन प्राणियों को स्वभाव से मांसभोजी बनाया है वे घूंट भर कर पानी भी नही पी सकते, जीभ से चाट-चाट कर पानी पीते हैं। माँस भोजी पशुओं के मुख में चबाने के लिए दाढ़े न होकर नुकीले कीलनुमा मांस काटने के कीलें होती है। मांसभोजी मनुष्यों का व्यवहार भी पशुतुल्य खुंखार हो जाता है।

नहि धान्यसमो ह्यर्थः-276

संसार में अन्न जैसा जीवनोपयोगी कोई पदार्थ नहीं हैं।

जीवनधारक पदार्थों मे अन्न का सबसे प्रमुख स्थान है। अन्न स्वयं ही अर्थोपार्जन का लक्ष्य है, इसी कारण से अन्न संसार का सर्वश्रेष्ठ पदार्थ है। ''अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः'' अन्न ही प्राणियों के प्राण हैं। समस्त भूमण्डल के एकत्रित पदार्थ-रत्नादि मनुष्य की भूख नहीं मिटा सकते। क्षुधा की निवृत्ति केवल अन्न से होती है। इसी लिए राजा अपने राष्ट्र को धान्यसम्पन्न

बनाए रखने में कोई कसर नहीं उठा रखते। कूप, पोखर, कुल्या, नाले, बाँध, द्वारा खेती का सिंचन का प्रबन्ध करके राष्ट्र में अन्नोत्पादन पर पूरा ध्यान देते हैं।

राज्य का सबसे बड़ा शत्रु क्षुधा है। **''न क्षुधासमः शत्रुः''-277** राज्य में अन्नाभावजनित दुर्भिक्ष या अपरितृप्त क्षुधासम कोई शत्रु नहीं। ''बुभुक्षितः किं न करोति पापम्''। भूखा क्या पाप नहीं करता? अन्न न पा सकने वाली जनता में परस्पर लूटपाट से राज्य में अशान्ति होना अवश्यम्भावी है। प्रजा में क्षुधा के कारण हाहाकार न होने देने के लिए राजा भरपूर यत्न करते हैं। शत्रु तो धनादि का ही अपहरण करता है लेकिन राजा, प्रजा की क्षुधा का अपहरण, जो शरीर, इन्द्रिय तथा प्राणों तक हरण कर लेती है, अन्न से करता है। इसलिए राजा को क्षुधानिवृत्ति के लिए अन्नोत्पत्ति में प्रजा की भरपूर मदद करनी चाहिए। महाभारत में भी कहा गया है-

वासुदेव जरा कष्टं कष्टं धनविपर्ययः।

पुत्रशोकस्ततः कष्टं कष्टात् कष्टतरं क्षुधा॥

वृद्धावस्था भी कष्ट है, धननाश भी कष्ट है, पुत्र शोक भी कष्ट है, परन्तु क्षुधा सब कष्टों से बड़ा कष्ट है।

निकम्मों का भूखों मरना निश्चित है- 'अकृतेर्नियता क्षुत्-278

निकम्मे-आलसी व्यक्ति का भूखों मरना अवश्यंभावी होता है। कर्म प्रवीण लोग अपने पुरुषार्थ से धन-धान्यादि पाकर अपनी तथा दूसरों की भूख मिटा देते हैं। किसी राष्ट्र में लोगों का भूखा मरना राष्ट्र के लिए अभिशाप है। इसलिए राजा प्रजा में बेकारी की नौबत न आने दें तथा उसे यथासम्भव रोकें। धनी या निर्धन को कर्महीन रहना वैधानिक अपराध माना जाए। प्रजा की रोजी-रोटी का प्रबन्ध किया जाए। श्रम सबके लिए अपरिहार्य समझा जाए। क्षुधा बाधा अर्थात् भुखमरी तभी दूर होगी।

क्षुधा की विकरालता तो कितने पापमय कृत्य करा देती है।

नास्त्यभक्ष्यं क्षुधितस्य-279

क्षुधा पीड़ित के लिए अभक्ष्य कुछ नहीं रहता। बुभुक्षित लोग घास पात, वृक्ष की छाल, नरमांस, अपने बच्चों का मांस, आदि अमानवोचित आहार पर उतर आते हैं। राणा प्रताप ने अपने बच्चों को वन में घास-पात की रोटियाँ विवशतावश खिलाई लेकिन मुगल शासक अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की। सर्पिणी अपने जीवित बच्चों को निगल जाती है। 'कष्टात् कष्टतरं क्षुधा' भूख संसार का सबसे बड़ा कष्ट है। 'भूखा मरता क्या नहीं करता'- इस नौबत के आने से पहले राजा अपने राष्ट्र को अन्न सम्पन्न बनाएँ।

न चक्षुषः समं ज्योतिरस्ति-403

चक्षु संसार की सबसे महत्वपूर्ण ज्योति है चक्षु के बिना यह जगत् ज्योतिहीन हो जाता है। चक्षु के समान कोई ज्योति नहीं है। वस्तुदर्शन में चक्षु जैसी महत्वपूर्ण अन्य कोई ज्योति नहीं है। अपितु चक्षु ही समस्त ज्योतियों का उपयोग करने वाली ज्योति है उसके बिना समस्त ज्योति अनुपयोगी हो जाती हैं।

चक्षु के बिना अनन्त ज्योति सूर्य भी मनुष्य को एक तिनका भी नहीं दिखा सकता। चक्षु के बिना उनका मूल्य खद्योत के बराबर भी नहीं रहता। अतः मनुष्य चक्षु रक्षा का विशेष ध्यान रखे। चक्षु का विषयों के साथ, विशेषकर टी.बी., तेज रोशनी, धूल-आंधी, गंदे जल में स्नान-तैराकी आदि से सावधान रहें। माता-पिता के शारीरिक दोष, मधुमेह, उदर रोग तथा नेत्र विषयक अनेक संक्रामक चेचक रोगादि से अन्धता पैदा होती है।

मनुष्य चक्षु से मार्ग देख कर ही स्थूल देह को गन्तव्य स्थान तक ले जाता है और वापिस ठीक ढ़ंग से ले आता है। मनुष्य चक्षु से देखकर ही ग्राह्य वस्तु को ग्रहण करता है और त्याज्य पदार्थ को त्याग देता है। प्रत्यक्ष-स्पष्ट दर्शन से ही जीवन सुखपूर्वक चलता है। चक्षु, कर्ण नासिका, जिह्वा एवं त्वचा के स्वस्थ होने पर ही उनकी सार्थकता है। मनुष्य किसी भी कर्तव्य को, देश-काल-पात्र का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किए बिना ठीक प्रकार से कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। चक्षु के माध्यम से ही किसी व्यक्ति के साथ व्यवहार अभ्रान्त रुप में किया जा सकता है। प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सत्यासत्य का निर्णय किया जा सकता है। मानव जीवन एक संग्राम भूमि है जिसमें नेत्र से ही स्पष्ट दर्शन से ही हिताहित का ज्ञान हो पाता है।

आँखें होने पर बाह्य रोशनी नजर आती है इसीलिए आँख को ही ज्योति कहा गया है। पृथ्वी पर सूर्य से प्रखर कोई ज्योति नही है। वह भी अन्ध मनुष्य को रोशनी नही दिखा सकती उसके लिए तो वहाँ सिर्फ अन्धकार ही है। जन्म से अन्धा व्यक्ति तो जानता ही नहीं कि रोशनी क्या चीज होती है।

देहधारियों में अनेक जीव-जन्तु हैं जिनके आँखें नहीं होती जैसे की चींटी। इसके विपरीत मक्खी, मधु-मक्खी मकड़ी आदि जीवों की अनेकों आँखें होती हैं। प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था कर दी है कि जिन जीवों के आँखे नहीं होती वे अन्य इन्द्रियों से काम चला लेते हैं। मनुष्यों में भी ऐसे उदाहरण पाए जाते है कि नेत्रहीन की कोई दूसरी ज्ञानेन्द्रियाँ इतनी विकसित होती है कि वह संवेदन-ग्राहक हो जाती है कि आँख का अभाव ही सहायक हो कर निर्वाहक हो जाता है। मिस हेलन कीलर की स्पर्शेन्द्रिय इतनी चैतन्य हो गई थी कि वह उंगलियों से छूकर वस्तु के रंगों तक को पहचान लेती थीं। चक्षुहीन लोग महाकवि सूरदास की तरह गायन में निपुण हो जाते हैं।

आँख को शरीर का नेता कहा गया है–

चक्षुर्हि शरीरिणां नेता– 404

आँख का पर्यायवाची 'नेत्र' शब्द इसी अर्थ का परिचायक है। जिस प्रकार नेता अपने अनुगामियों का मार्गदर्शन करता है उसी प्रकार आँखे मनुष्य की मार्गदर्शक होती हैं। उसे रास्ते में ठोकर खाने से, गड्ढ़ों में गिरने से, कीचड़ में फँसने से बचाती हैं। कोई चीज सामने आ जाए उससे टक्कर नहीं होने देतीं। नेता की भांति सभी कष्टों से बचाती हैं।

नेत्रहीन शरीर से संसार यात्रा कष्टप्रद हो जाती है– 'अपचक्षुः किंशरीरेणं' नेत्र हीन व्यक्ति सारथि हीन रथ के तुल्य अकार्यकारी हो जाता है।

राष्ट्रीय कार्यों का आधार

राष्ट्रीय कार्यों का आधार
अर्थमूलं कार्यम्-92

अर्थ कार्यों का मूल होता है। राज्यश्री ही राजकाज को सुचारु रुप से चलाने में सहायक होती है। लौकिक-सांसारिक काम धन्धा भी धन से ही चलता है जैसे पर्वतों से नदियाँ प्रवाहित होकर खेतों का सिंचन करती हैं वैसे ही प्रवृद्ध धन सम्पदा से समस्त काम काज होने लगते हैं।

दूसरे सूत्र (धर्मस्य मूलमर्थः) में भी धन को धर्म का मूल कहा गया है। कामना-इच्छापूर्ति, आवश्यकता पूर्ति का मूल भी धन ही (अर्थमूलौ धर्मकामौ) बताया गया है। अब प्रस्तुत सूत्र 'दाम बनाए काम' के सिद्धान्त 'अर्थ मूलं कार्यम्' के सूत्र को ही बताता है। इस प्रकार धर्म, काम और कार्य, इन तीनों का मूल धन ही है।

चाणक्य की इस विचार धारा में मार्क्स के अर्थवाद (Economic Doctrine) का अहसास-पूर्वाभास नजर आता है। मार्क्सवाद के अनुसार अर्थ व्यवस्था ही मनुष्यों की परिस्थितियों तथा इतिहास का निर्माण करती है। सामान्यतः दैनिक जीवन में भी कहा जाता है Money makes the mare go. (Night Mare) जीवन के झंझटों को दूर करता है धन। वर्तमान युग तो ठेठ अर्थ प्रधान युग है। धनहीन मनुष्य अपनी तथा अपने परिवार की बुनियादी जरुरतें धन के बिना पूरी नहीं कर पाता। हर समय जीविका की चिन्ता में उसे धर्म का तो ध्यान ही नहीं आता। धन की कमाई येन-केन-प्रकारेण भी करने के लिए चोरी, डकैती, लूटपाट, घूस-खोरी भी करता है। 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापं क्षीणाः नराः निष्करुणाः भवन्ति'। धन की गर्मी के बिना मनुष्य कुछ का कुछ बन जाता है जैसा कि भर्तृहरि ने कहा भी है-

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्॥

ये ही अविकल इन्द्रियाँ हैं, वही नाम है, वही अकुण्ठित बुद्धि है, वही वाणी है, फिर भी कैसी विचित्र बात है कि धन की गर्मी के बिना मनुष्य कुछ का कुछ हो जाता है।

यही हाल राष्ट्रों का भी है। निर्धन राष्ट्र उन्नति की दौड़ में पिछड जाते हैं। अपनी योजनाएँ पूरी करने के लिए धनी राष्ट्रों से कर्ज लेते हैं या भीख मांगते हैं और इसकी कीमत में अपनी स्वतन्त्रता व आत्म-सम्मान गंवाना पड़ता है।

यदल्पप्रयत्नात् कार्यसिद्धिर्भवति- 93

राज्यश्री पाने पर कार्य अल्प प्रयत्न से सिद्ध हो जाते हैं। राजकाज की सिद्धि राज्यश्री पर आश्रित है और राजकाज के द्वारा ही सुसम्पन्नता-राज्यश्री का आगमन होता है। दोनों एक दूसरे पर समान भाव से निर्भर हैं।

वस्तुत: कार्यसिद्धि में महत्व तो प्रयत्नों का है जिनके बिना कार्यसिद्धि नहीं होती अत: **'यत्प्रयत्नात् कार्यसिद्धिर्भवति स उपाय:'**

अर्थात् जिस प्रयत्न से कार्यसिद्धि हो वह प्रयत्न उस कार्य का उपाय कहलाता है।

इन सात उपायों से कार्यसिद्धि सम्भव है। परिस्थिति के अनुसार ही इन सात उपायों में से कार्य साधें। उपाय चिन्ता ही राज्यश्री वृद्धि का कारण है।

1. सुवचन तथा सुव्यवहार से दूसरों को अनुकूल बनाना 'साम' नामक उपाय है।
2. दूसरों को अपने पास से पैसा देकर विनिमय से उसकी अनुकूलता प्राप्त करना तथा सेवा या वस्तु प्राप्त करना 'दाम' नामक उपाय कहलाता है।
3. शत्रु का धन-प्राण अपहरण या ताड़न 'दण्ड' नामक उपाय कहलाता है।
4. शत्रुओं में परस्पर कलह पैदा करना, फूट डलवाना 'भेद' नामक उपाय है।
5. कुटिलता-झूठ-छल प्रपञ्च से प्रवंचना करना 'माया' नामक उपाय है।
6. शत्रु से असहयोग 'उपेक्षा' नामक उपाय है।
7. शत्रु के विरुद्ध षड्यन्त्र 'इन्द्रजाल' है।

उपायपूर्वं न दुष्करं स्यात् - 94

कार्य उपाय पूर्वक करने से दुष्कर नहीं रहता। कर्म में दुष्करता-दुरुहता नहीं रहती उपायपूर्वक किए जाने पर। सामर्थ्यानुसार ही कार्य निष्पन्न होता है। ज्यों ही मनुष्य कर्तव्य कर्म के लिए उद्यत होता है त्यों ही कार्यसाधक साधन उसके साथ अनिवार्यत: साध लिए जाते हैं। वास्तविक रुप में तो विध्न को हटाने की अनिच्छा ही बड़ी विध्नरुपा होती है। कठिनता के प्रति कठोर होते ही कठिनता सुकरता में बदल जाती है। व्यक्ति का आत्मनिश्चय ही साधन भूत उपाय खोज लेता है। मनुष्य की निश्चयात्मिका बुद्धि ही कठिनता को यथार्थ का रुप देती है।

अनुपायपूर्वं कार्यं कृतमपि विनश्यति- 95

पहले उपाय स्थिर किए बिना आरम्भ किए हुए कार्य नष्ट हो जाते हैं। उपस्थित कर्तव्य-कर्म में कौन से साधन या उपाय प्रयुक्त करने उपयुक्त होंगे इसका निर्णय किए बिना

कार्य सफलतापूर्वक नहीं किए जा सकते। उपाय की भ्रान्ति ही दुष्कर्म या अकर्तव्य कर्म कराती है। कर्तव्य से भ्रष्ट होकर जो कुछ भी किया जाता है वह विफल ही होता है। कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय कर लेने पर उसमें जुटा रहना, निरन्तर करते ही रहना, उसे अपना जीवन ध्येय-लक्ष्य बना लेना ही लक्ष्य पा लेने के समान है। कर्तव्यशील व्यक्तियों की अचूक सफलता का यही राज है।

जीवन में उपाय का महत्व

कार्यार्थिनामुपाय एव सहायः-96

उपाय ही कार्यार्थियों का सच्चा सहायक होता है। उपाय कार्यार्थियों की सहायता करने वाला सच्चा साथी और शत्रु विजय में समर्थ बनाने वाला है। कर्तव्यपरायण साम-दामादि उपायों से साधनों का निर्णय करके, अनुकूल प्रतिकूल फलों की परवाह न करके स्वयं को कर्तव्य कर्म में झोंक देते हैं और तभी सिद्धि पाने में समर्थ होते हैं। सिद्धि पाने का आवश्यक रहस्य यही है। कार्यसिद्धों को ही सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं अपने को असमर्थ-असिद्ध मानने वालों को नहीं। महाकवि भारवि ने उपयुक्त ही कहा है-

यशोधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुके वाङ्कमुपैति सिद्धिः॥

सफलता या तो यश प्राप्ति के लिए या सुख प्राप्ति के लिए या श्रेष्ठतम व्यक्ति बन जाने के लिए, फलसिद्धि के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की उत्सुकता न रखकर, कर्तव्यपालन में जुटे रहने वाले लोगों की गोदी में उत्सुक होकर स्वयं ही आ विराजती है।

कर्तव्यपालन ही जीवन का लक्ष्य

कार्यं पुरुषकारेण लक्ष्यं सम्पद्यते-97

कार्य पुरुषकार-कर्तव्यरुप में स्वीकृत हो चुकने के पश्चात् लक्ष्य बन जाता है अर्थात् फल का स्थान ले लेता है या स्वयं ही मुख्य फल बन जाता है। कर्तव्य को सुसम्पन्न कर लेना ही कर्तव्यनिष्ठ लोगों का मुख्य ध्येय बन जाता है और परिणाम गौण हो जाता है। जब कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति कर्तव्यपालन में ही सन्तोष कर लेता है और स्वयं को कृत्कृत्य मानता है तो भौतिक फल की आकांक्षा उस पूर्णकाम हृदय को संतप्त नहीं करती। लेकिन कर्तव्य में उद्यम-उत्साह-अध्यवसाय होने पर ही कार्य बनता है। पुरुषार्थ के बिना किसी को भी कुछ भी पाने का अधिकार नहीं है। पुरुषार्थ ही लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होता है अतः ''दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या'' दैव को छोड़कर आत्मशक्ति से पुरुषार्थ करे क्योंकि सोए हुए शेर के मुख में मृग स्वयं प्रवेश नही करते-नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।।

शेर को पशुओं को अपना भोजन बनाने के लिए हाथ-पाँव मारने ही पड़ते हैं।

पुरुषार्थ की प्रबलता

पुरुषकारमनुवर्तते दैवम्- 98

भाग्य में जो है वह तो होगा ही, लेकिन पुरुष यदि पुरुषार्थ पर भरोसा करके निरन्तर कार्य करता रहे तो जीवन में भाग्योदय सुनिश्चित है। अतः भाग्य के भरोसे निठल्ले बैठे रहना ठीक नहीं अपितु कर्म करते रहना ही ठीक है तन-मन और धन की सम्पन्नता के लिए। मनुष्य के निजी उद्यम से अपनी कोशिशों के अनुसार किए जाने से सदैव सुकर्म ही होता है।

मनुष्य प्रायः सोचता है कि सारा संसार ही भगवान् के भरोसे चल रहा है तो तुम्हारे कुछ करने से क्या होगा। ईश्वर तुम्हारे शरीर में शक्ति का संचार भी तो कर रहें हैं तो क्यों न उस शक्ति का उपयोग अपने और जगत् के कार्यों में किया जाए। यदि ईश्वर प्रदत्त शक्ति का ही उपयोग न करके सब कुछ ईश्वर-भाग्य के भरोसे छोड़ दिया जायेगा तो स्वयं ही ईश्वर की दी हुई शारीरिक शक्ति का भरोसा न करना तो पशुतुल्य जीवन बिताना खाना-पीना-आराम करना होगा। मानव तन की विशेषता, ईश्वर प्रदत्त शक्ति का सदुपयोग करने में ही है। पुरुषार्थ से ही ईश्वरीय शक्ति का अहसास होगा।

दैव पुरुषार्थ के पीछे चलता है।

पुरुषार्थ ही मुख्य है, दैव गौण है। जो करना है वह पुरुषार्थ है, जो कर चुके वह दैव है। दैव के भरोसे कर्तव्य निर्णय नहीं होता। मनुष्य को, दैव को बाहर रख कर ही पुरुषार्थ करना पड़ता है। कर्म का उत्तर काल दैव का अधिकार क्षेत्र है, कर्म काल नहीं।

दैव-प्रारब्ध का अर्थ होता है पूर्व जन्म के कर्मों का भोग। दैव विषयक एक भ्रान्ति है कि मनुष्य के सारे कर्म प्रारब्ध के अनुसार होते हैं- यह कर्म सिद्धान्त का अटल नियम माना जाता है। यदि इस सिद्धान्त पर विश्वास किया जाए तो यह तात्पर्य निकलता है कि मनुष्य को कर्म करने की कोई स्वतन्त्रता नहीं है। यदि सारे कर्म दैव के अधीन हैं तो मनुष्य को कुछ भी सोच-विचार करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि पुरुषार्थी भाग्य के भरोसे नही रहता वह तो पुरुषार्थ द्वारा अपना भाग्य बनाता है।

नीतिकारों ने चार पुरुषार्थ मानें हैं- धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष। मनुष्य जो प्राप्त करना चाहता है, जो उसका जीवन लक्ष्य हो उसे पुरुषार्थ कहते हैं। धर्म-कर्तव्य कर्म, अर्थ- भौतिक सुख साधन जिससे प्राप्त हो सकें, काम-जीवन की सुख-सुविधाएँ तथा मोक्ष-जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति। मनुष्य के कार्य किसी न किसी पुरुषार्थ के लिए होते हैं। किसी की धर्म में रुचि होती है तो कोई धनार्जन में संलग्न होता है। कोई जीवन की सारी सुख-सुविधाएँ जुटाने में जुटा होता है। कोई मोक्ष प्राप्ति के लिए साधना करता है। मनुष्य का कार्य पुरुषार्थ का रुप धारण कर लेता है, वह कार्य ही उसका लक्ष्य बन जाता है और उस लक्ष्य को पाने के लिए जी जान से जुट जाता है। तात्पर्य यह है कि जब तक किसी कार्य को लक्ष्य न बनाया जाए तब तक वह सिद्ध नहीं होता।

कर्म का उत्तर काल दैव का अधिकार क्षेत्र है, कर्मकाल नहीं

दैवं विनातिप्रयत्नं करोति यत्तद्विफलम् -99

दैव अर्थात् भाग्य की अनुकूलता के बिना उत्तम रीति से किया गया कर्म भी भौतिक फल से रहित होता है। वस्तुतः यदि भाग्य की अनुकूलता के भरोसे रहा जाए तो कर्म प्रारम्भ ही नहीं किया जा सकता। यदि भाग्य की अनुकूलता से भौतिक सफलता तथा प्रतिकूलता से निष्फलता निश्चित हो तो कर्म करने की आवश्यकता ही न रहे। इस दृष्टि से मनुष्य की दैवाश्रितता पुरुषार्थ का विरोध करती है। भवितव्यता की उपेक्षा करके ही कर्तव्य कर्म किया जा सकता है। भविष्यकालीन भौतिक सफलता-विफलता मनुष्य के लिए अज्ञेय होती है।

अनेक बार पुरुषार्थ होने पर भी कार्य सिद्ध नही होते। गीता में दैव को कार्य के पांच कारणों में से एक कहा है-

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥

अर्थात् 1. आधारस्थान 2. कर्ता 3. विभिन्न करण 4. नाना प्रकार की चेष्टाएँ तथा 5. दैव- ये पांच कारण शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक कर्मों के कारण होते हैं।

चाणक्य का अभिप्राय है कि मनुष्य कर्म के प्रारम्भ में दैवाश्रित न हो। यदि वह प्रारम्भ में ही दैवाश्रित हो जायेगा तो कार्य प्रारम्भ ही नहीं कर सकता। अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य कार्य को प्रारम्भ करते हुए देव की अनुकूलता-प्रतिकूलता की उपेक्षा करे। दैव का विचार करने से भाग्य भरोसे रहने से मनुष्य अनुत्साही होकर नष्ट हो जाता है। अतः कर्म करने के लिए पुरुषार्थ पहले और दैव का बाद में विचार करे।

असमाहितस्य वृत्तिर्न विद्यते-100

अव्यवस्थित चित्तवाले पुरुष के पास वृत्ति-सद्वत्ति-सद्व्यवहार-सद्भावना नहीं रहती। अथवा अचेष्टमान-दैवाश्रित होकर बैठे रहनें वाले के पास जीवन यात्रा के साधनों का अभाव हो जाता है।

कर्तव्यनिश्चय के अनन्तर कार्यारम्भ करे
पूर्वं निश्चित्य पश्चात् कार्यमारभेत्-101

कार्यरम्भ करने से पहले उसकी अनिवार्यता, उसके फलाफल, उसकी नीति, उपाय के सम्बन्ध में विचार कर बिना झिझक के काम में हाथ डालना चाहिए।

सोच समझ कर भली प्रकार निश्चय करके ही कार्यारम्भ करें। बिना सोचे-समझे कार्य करने की स्थिति पश्चातापभरी निष्फल स्थिति होती है। **''अविचारितकार्येषु प्रमादाः सम्पतन्ति हि''** बिना विचारे कार्यों में प्रमाद और प्रमाद से उत्पन्न होने वाली आपत्तियाँ आ

खड़ी होती हैं। इसलिए पहले ही कार्य से सम्बद्ध समस्त चिन्ताओं पर विचार करके ही कार्यारम्भ करना चाहिए।

विलम्बकारिता से कार्य में दोष

कार्यान्तरे दीर्घसूत्रिता न कर्तव्या-102

कर्म के मध्य में अति विलम्बकारिता- देर तक काम को लटकाए रखना नहीं चाहिए।

काम को आधा-अधूरा लटकाए रखना, ''अभी शीघ्रता क्या है'' इस बुद्धि से काम को बीच में छोड़ना-स्थगित रखना दीर्घसूत्रता है। तुरन्त निबटाए जाने वाले काम को उसमें मीन-मेख निकालना और काम को चटपट न निबटाने से उसमें विलम्बकारिता का दोष आ जाता है।

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् न शठा न च मानिनः।

न च लोकखाद् भीता न च श्वः श्वः प्रतीक्षकाः॥

आलसी-दीर्घसूत्री, शठ, मानी, लोगों के शोर से भयभीत तथा कल-परसों की प्रतीक्षा में कर्त्तव्य कर्म का समय खोने वालों के काम सिद्ध नहीं होते।

न चलचित्तस्य कार्यावाप्तिः 103

अस्थिर मन वाले व्यक्ति के काम पूरे नहीं हुआ करते।।

मन की अस्थिरता को तन की दृढ़बद्धता से कसा जाना चाहिए। अदृढ़ता से लक्ष्य भ्रष्ट होकर कर्मफल अप्राप्त ही रह जाता है। सुस्थिर मन के निश्चय से ही कार्य सुसम्पन्न होते हैं। मन की अटूट-सतत् दृढ़ता से ही कर्म में अवगाहन-डूबने की स्थिति होती है। विषयगत सूत्रों को परस्पर जोड़ पाना तभी सम्भव होता है। मन की स्थिरता से ही बुद्धि का विकास और कार्य में दक्षता प्राप्त होती है। मन-बुद्धि तत्वज्ञान से तभी तक परिचित रहते हैं जब तक उनमें निरन्तरता बनी रहती है। तत्वज्ञान से मन-बुद्धि को परिचित रखना ही कार्य की निरन्तरता का प्रमाण एवं उपाय है और गीता का सन्देश भी यही है कि ''नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'' विषय की गहरी दीर्घकालिक पकड़ स्थिर मन-बुद्धि से ही होती है।

प्राप्त साधनों के अनुपयोग से हानि

हस्तगतावमाननात् कार्यव्यतिक्रमो भवति-104

अपने पास उपलब्ध साधनों का उपयोग न करने से कार्य में रुकावट आ जाती है।

कार्य सिद्धि में प्राप्त संसाधनों के सदुपयोग का महत्वपूर्ण स्थान है। उसे ठीक-ठीक समझना बहुत जरुरी है। संसार के मूढ़ लोग कार्यसिद्धि के लिए अप्राप्त साधनों के पीछे भटकते हैं परन्तु उन्हें उपलब्ध हो जाने पर भी ठीक प्रकार से प्रयोग न जानने के कारण पड़ा रहने देते हैं। आवश्यक साधनों के सदुपयोग के बिना कार्य कभी सफल नहीं होते। कार्य में

प्रयुक्त होने वाले साधनों के ठीक प्रकार से प्रयोग न करने और रख-रखाव ठीक प्रकार से न करने से उत्तम गुणवत्ता वाला काम नहीं हो पाता। अतः कार्यारम्भ के साथ-साथ साधनों के सदुपयोग पर ध्यान देना आवश्यक है।

निर्दोष कर्मों की दुर्लभता

दोषवर्जितानि कार्याणि दुर्लभानि- 105

संसार में दोषरहित कार्य कम ही होते हैं।

संसार में निर्दोष- स्वार्थ रहित, सार्वजनिक कल्याण में अपना कल्याण देखने वाले कर्मो का अभाव देखा जाता है। यदि निर्दोष कार्य करने की भावना सभी में जागृत हो जाए तो समाज में सुख की वर्षा होने लगे। प्रायः संसार स्वार्थ बुद्धि से कलुषित हो कर ही कार्य में प्रवृत्त होता है। व्यक्तिगत स्वार्थ में डूब कर व्यक्ति बड़े स्तर पर किए जाने योग्य कर्मों की अवहेलना करते हैं क्योंकि दूसरों के लिए किए जाने वाले कर्म उन्हें फिजूल के लगते हैं। परन्तु परमार्थ के काम करने वालों का प्रायः अभाव ही है। इसी कारण स्वार्थ साधनों में दूसरे का हिताहित नहीं देखा जाता और दूसरे को नुकसान पहुँचाने में भी उद्यत-तत्पर होते हैं।

अशुभ परिणामी कर्म अकर्तव्य

दुरनुबन्धं कार्यं नारभेत-106

मनुष्य निश्चित तौर पर शुभ परिणाम न देने वाले कार्यों को आरम्भ ही न करे।

मनुष्य कार्य आरम्भ करने से पहले सर्वजनहितकारिता, अनिवार्यता, गुणागुणश्रेष्ठता, दोष भाव, हानि-लाभ, यश-अपयश आदि समस्त दृष्टिकोणों से जाँचे-परखे। यदि वह कार्य परीक्षा में अशुभ-मिश्रित सिद्ध हो उसे निश्चित ही अशुभ समझकर नही अपनाना चाहिए सभी कार्यों को करने की अनुमति-अनुमोदन मिल ही जाये यह जरुरी नहीं है। कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं जिनकी अनुमति न दिए जाने में ही जन-कल्याण है।

कार्यसिद्धि में अनुकूल समय का महत्व

कालवित् कार्यं साधयेत् -107

अनुकूल अवसर-परिस्थिति को पहिचानने वाला अपना काम अनायास ही बना लेता है।

देशं कालं तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम्।
उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा कार्यं समारभेत्॥

मनुष्य देश-स्थान, काल-अवसर, आत्मशक्ति, द्रव्य तथा उसका प्रयोग-उपयोग, उपाय और अवस्था को जान कर कर्म का आरम्भ करे।

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
इति संचित्य कर्माणि प्राज्ञः कुर्वीत वा न वा॥

क्या समय है? कौन सहायक है? क्या परिस्थिति है? आय-व्यय कितना है? ये सब बातें सोचकर अपनी शक्ति में समझे तो ही बुद्धिमान करे और यदि न समझे तो न करे।

काम का भी एक समय-अवसर होता है। मिट्टी के बर्तन भी हर समय और हर किस्म की मिट्टी से नही बनते। कार्य का समय चूक जाने-निकल जाने पर या समय से पूर्व किए जाने पर उचित कार्य निष्पत्ति नहीं होती। उचित अवसर को पहिचानने का कार्यनिष्पादन में महत्व पूर्ण स्थान है।

कार्यकाल टालने के दुष्परिणाम्

कालातिक्रमात् काल एव फलं पिबति- 108

करणीय कर्म का काल निकल जाने से समय ही उसका रस पी जाता है।

कर्तव्य कर्म का जिस समय बोध हो वही उस कार्य का उचित समय है। तुरन्त निबटा लिए जाने से व्यक्ति पर मानसिक बोझ भी नही रहता और तुरन्त उस पर कार्यवाही किए जाने से कार्य को सुधार कर उपयोग योग्य बनाया जा सकता है। स्वयं व्यक्ति अपना उत्तरदायित्व समझ कर जिस बखूबी से तत्परता से काम निबटा कर सन्तुष्ट हो सकता है वैसा दूसरों के कन्धों पर डाल कर नहीं कर-हो पाता। कर्तव्यहीन व्यक्ति के कन्धों पर डालने से उस उत्तरदायित्व को निभाने में उतनी रुचि नहीं होगी क्योंकि मूल रुप में जुड़े व्यक्ति को जो लगाव-महत्व होता है वह अन्य किसी को नहीं हो सकता। फिर आगे-आगे जैसे समय निकलता है वैसे-वैसे और-और अड़चनें खड़ी होने लगती हैं। वे बाधाएँ उस कर्म को होने नहीं देतीं अतः-

आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः

क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्॥

लेना-देना और कर्तव्य कर्म यदि तुरन्त न किया जाए तो काल ही इनका रस पी जाता है। टले हुए कर्तव्य कर्म बोझ होकर उस का आनन्द-मजा समाप्त कर देते हैं। देश-काल का कार्य से अनिवार्य सम्बन्ध है और देश-काल हमेशा ही परिवर्तित होते रहते हैं और उसी के अनुसार कार्य की निष्पन्नता और उसका परिणाम भी और आनन्द में भी तदनुरुप परिवर्तन आ जाता है।

कर्तव्य पालन में काल हानि अकर्तव्य

क्षणं प्रति कालविक्षेपं न कुर्यात् सर्वकृत्येषु-109

मनुष्य किसी भी कर्तव्य कर्म में क्षणभर का भी विलम्ब न करे।

कार्य के उचित समय पर निष्पादन किए जाने पर ही सफलता एवं आनन्द मिलता है। सर्वाधिक कौशल-निपुणता, क्षयकारी समय को बहुमूल्य समय में परिवर्तित कर देने में है

और यह तभी हो सकता है जबकि पल-प्रतिपल का सदुपयोग किया जाय। क्षण-क्षण हमें क्षीण करता हुआ समय हमारे लिए चेतावनी-चुनौती है जिसका मुकाबला हमें काल के गाल में समाने से पूर्व अपने अमर-अमिट होने के प्रमाण छोड़ने-प्रस्तुत करने से होगा।

कार्य आरम्भ करने में ज्ञेयतत्व

देशकाल विभागौ ज्ञात्वा कार्यमारभेत्-110

मनुष्य परिस्थिति एवं परिणाम (सफलता की सम्भावना) जानकर ही कार्य आरम्भ करे। कर्मोपयोगी परिस्थिति तथा उपयुक्त काल में आरम्भ किए हुए कार्य ही सफल होते हैं।

विपरीत परिस्थिति में कार्य करने से हानि

दैवहीनं कार्यं सुसाधमपि दुःसाधं भवति-111

दैव की प्रतिकूलता होने पर भी भली प्रकार देखकर किया गया कार्य भी दुःसाध्य होने-दिखने लगता है।

पुरुषार्थी पुरुष को कर्म की दुःसाध्यता अर्थात् भौतिक साधनहीनता देखकर निराश न होकर अपने प्रबल पुरुषार्थ से उस कर्म को साध्यकोटि में लाना है। पुरुषार्थ से दुःसाध्य भी साध्य कर्म होते देखे जाते हैं। पुरुषार्थ से मनुष्यों ने अलंध्य पर्वतों को भी लंध्य और दुस्तर समुद्रों के ऊपर से जाने के लिए विवश किया है चुनौती के रुप में। प्रायः लोग लकीर के फकीर होते हैं। स्वयं रास्ता बनाना बहुत कम लोग जानते हैं। प्रवाह के प्रतिकूल चलना दुःसाध्य माना जाता है परन्तु पुरुषार्थी तो कार्य की उपादेयता तथा समय की अनुकूलता देखता हुआ उस चुनौती को अपना कर्तव्य समझता हुआ कार्य निष्पादन करता है। दैवाधीन का अपना कर्तव्य कर्म अपूर्ण ही पड़ा रह जाता है लेकिन

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या।

यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः॥

दैवाधीनता रुपी निकम्मेपन से बचने के लिए ही पुरुषार्थ की लग्न लगाने-जाग्रत करने से ही जीवन की सार्थकता है।

कर्म में देश-काल की परीक्षा करनी चाहिए

नीतिज्ञो देशकालौ परीक्षेत- 112

व्यवहार कुशल-नीतिज्ञ को स्थान एवं स्थिति-अवसर को देखकर ही कार्य करना चाहिए।

स्थान एवं अवसर को देखकर कार्य करने वाले ही सफल एवं श्री सम्पन्न होते हैं। समय-अवसर-परिस्थिति कार्य साधनों को देखकर ही कार्यारम्भ करे। ''सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्'' मनुष्य सहसा कोई काम न करे। कार्यविषयक अविवेक से कार्य विपत्तियों से घिर जाता है।

परीक्ष्यकारिणि श्रीश्चिरं तिष्ठति–113

सुअवसर पहचान कर कर्म करने वाले के पास श्री–सफलता–भाग्यलक्ष्मी चिरकाल तक ठहरती है। सर्वविध सम्पदाएँ देश–काल पहचान कर काम करने वाले के पास स्वयमेव आविराजती हैं– **सर्वाश्च संपद उपतिष्ठन्ति।**

सर्वविध सम्पत्ति संग्रह राजा का कर्तव्य

सर्वाश्य संपदः सर्वोपायेन परिग्रहेत्–114

सभी उपायों–अर्थात् साम–दाम–दण्ड भेद से सभी प्रकार की संपत्तियाँ संग्रहीत करें ताकि जरुरत पड़ने पर उन साधनों का प्रयोग–उपयोग कर सके।

बहुविध सम्पदा जैसे भूमि–अन्न, रत्न, स्वर्ण धन से स्वयं को सम्पन्न रखें ताकि तात्कालिक महत्वपूर्ण कार्यों मे उनका उपयोग हो सके। प्रजा से न्यायपूर्वक कर के रुप में धन संग्रह करे। आवश्यकतानुसार राजकोष को सम्पन्न बनाने के सम्बन्ध में शुक्रनीति में कहा गया है–

देवद्विजाति शूद्राणामुपभोगाधिकं धनम्।

क्षीणकोशेन संग्राह्यं प्रविचिन्त्य विभागतः॥

क्षीण कोश वाला राजा, लोगों के उपभोग से बचे हुए अधिक धन को आंशिक रुप में इस प्रकार से ले कि उनसे लिए जाने पर उनकी जीविका के साधनों का अभाव न हो जाए।

राजा अपने पुरवासियों का धन उन्हें सन्तुष्ट करके या उनकी सहमति से ही ले। उनसे बल प्रयोग से या असन्तुष्ट करके न ले। आवश्यकता पड़ने पर राजा को इनके घर जाकर भी याचना करनी चाहिए जिससे इन लोगों को भी दान का पुण्य और यश लाभ हो तथा लोग देने में सम्मान तथा गौरव अनुभव करें और ऐसा करना अपना कर्त्तव्य मानें।

अपरीक्ष्यकारिता की हानि

भाग्यवन्तमपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति–115

श्री अर्थात् सफलता कार्य का सुअवसर न पहचानने वाले अपरीक्ष्यकारी को, भाग्य पर आश्रित रहने वाले को लक्ष्मी–सफलता छोड़ जाती है।

अतः मनुष्य कर्म के भले–बुरे परिणाम, अपनी शक्ति देश–काल आदि सभी बातों का ध्यान रखते हुए कर्म करे।

कार्यपरीक्षा के साधन

ज्ञानानुमानैश्च परीक्षा कर्तव्या–116

अपने ज्ञान की अनुभव शक्ति तथा विचार–उहना शक्ति के सहारे परिणाम के कारणों का ठीक–ठीक पता लगा कर कौन सा काम किस तरह से होना है ऐसा निर्णय करके ही अपना कर्तव्य कर्म करे।

अपने व्यावहारिक अनुभव तथा कल्पना शक्ति से कर्म की पूर्ण विवेचना किए बिना काम को अपनाने से निश्चित हानि होती है।

राजकर्मचारियों की नियुक्ति का आधार

यो यस्मिन् कर्मणि कुशलः तं तस्मिन्नेव योजयेत्-117

जो जिस काम को करने में कुशल हो उसे उसी प्रकार का कार्यभार सौंपना चाहिए।

राष्ट्र के सत्य निष्ठ बुद्धिमान् लोगों को महत्वपूर्ण कर्तव्यों मे लगाने से राजा को यश, सुख, तथा पर्याप्त धन प्राप्त होता है।

स्थानेष्वेव नियोज्यानि भृत्याश्चाभरणानि च

न हि चूडामणिः प्राज्ञैः पादादौ प्रतिबध्यते॥

भृत्य तथा आभरणादि का विनियोग यथोचित स्थान पर ही करना चाहिए जैसे बुद्धिमान् चूड़ामणि को पैर आदि में न बांध कर सिर में धारण करते हैं इसी प्रकार राष्ट्र के उत्तम कोटि के लोगों को निम्न स्थानों पर न रहने देकर उत्तमोत्तम पदों पर नियुक्त करना चाहिए।

उपायज्ञता की महिमा

दुःसाध्यमपि सुसाध्यं करोति उपायज्ञः- 118

उपायज्ञ व्यक्ति कर्म के जरुरी साधनों को पहचानने वाला कठिन कार्य को भी सुकर बना लेता है।

योग्य शासन कार्य सम्भालने वाले लोगों को कार्य भार सौंपने से दक्ष लोग उस कठिन कार्य को अनायास ही कर डालते हैं।

अज्ञानिना कृतमपि न बहुमन्तव्यम्-119

अज्ञानी के कर्म को सफलता न मान, उसे आकस्मिक घटना मान कर महत्व नहीं देना चाहिए।

अज्ञानियों के कामों में अयश, अर्थनाश और दुःख ही होता है इसलिए राजा निर्गुण लोगों के भरोसे सफलता के सारे सपने न देखे।

यादृच्छिकत्वात् कृमिरमि रुपान्तराणि करोति-120

जैसे घुन का कीड़ा अपनी इच्छानुसार पदार्थ के जैसा ही रुप धारण आकस्मिक तौर पर अबुद्धिपूर्वक बना लेता है उसके बनाए हुए आकारों से उसकी निर्माण कौशलता जाहिर नहीं

होती है इसी प्रकार मनमर्जी से अविवेक और अवचिारशीलता से कभी कोई काम संयोगवश बन भी जाए तो उस अविचारशील को उस काम का श्रेय नहीं दिया जा सकता।

विवेकपूर्ण कर्म ही मानव की विशेषता है। अविवेकी सेवक की स्वेच्छाचारिता करने की प्रवृत्ति शासन व्यवस्था के लिए अत्यन्त हानिप्रद है। शिक्षा से उपजे ज्ञान और विवेक से काम करने से ही मानव का कल्याण एवं सफलता होती है। मनमर्जी करने से सिद्धान्तहीनता के कारण कभी सफलता नहीं हो सकती।

सिद्धस्यैव कार्यस्य प्रकाशनं कर्तव्यम्- 121

कार्य के सफल हो चुकने के बाद ही लोगों की जानकारी में लाएँ।

कार्य के पूरा होने से पहले ही उसे जग जाहिर कर देने से उसमें विघ्न एवं विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। शत्रु को उसे बिगाड़ने का पूरा अवसर मिल जाता है। अतः काम पूरा होने से पहले उसका ढ़िंढ़ोरा पीटना उचित नहीं है, विघ्न बढ़ने व कार्य के रुकावट की संभावना के कारण।

ज्ञानवतामपि दैवमानुषदोषात् कार्याणि दुष्यन्ति- 122

कभी कभी बहुत से काम भवितव्यता की प्रतिकूलता से या किसी मानवीय त्रुटि से दूषित हो जाने पर अधूरे रह जाते हैं।

भवितव्यता की प्रतिकूलता होने पर काम पूरा होने से पहले उसका ढ़िंढ़ोरा पीटने से लोगों की दखलन्दाजी से मीन-मेख निकालने पर कार्य अधूरा-अपूर्ण छूटा रह जाता है। इसलिए काम पूरा होने से पहले किसी को जानकारी न दें। भूकम्प, महामारी, बाढ़, सूखा आदि दैवदोष हैं। हिंसा, द्वेष, विरोधियों के षड्यन्त्र तथा अपनी भूल आदि काम बिगाड़ने वाले मानुष दोष हैं। इनसे भी बहुधा मनुष्यों के काम बिगड़ जाते हैं अथवा बिगड़ने की सम्भावना रहती है। इसलिए काम पूरा होने से पहले इसे गुप्त ही रखें। वृहच्चाणक्य में कहा गया है-

विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः॥

अपनी भूल के प्रभाव से कार्य विरोधी परिस्थितियों को पाकर मूर्ख मनुष्य दैव को तो कोसता है परन्तु वह यह नही जानता कि मैंने अपनी किस भूल से अपना यह काम बिगाड़ा है।

दैवं शान्तिकर्मणा प्रतिषेद्धव्यम्-123

भूकम्प, महामारी, जलप्रलय, अकाल, राष्ट्रविप्लव तथा आततायियों के आक्रमण आदि दैवी विपत्तियों के अवसरों पर बुद्धि को शान्त एवं स्थिर करके उनका निवारण करना चाहिए।

बुद्धिमान् लोग दैवी विपत्तियों से घबरा कर अपनी प्रतिकार बुद्धि को कुंठित न होने दें

किन्तु अपनी अक्षुब्ध-स्वस्थ बुद्धि का प्रयोग करे और उसे टालने का यत्न करें किसी भी रुप में विपत्ति के सामने आत्मसमर्पण न कर बैठे। दैवी विपत्ति में घिर जाने पर वीर सैनिक की तरह मरे कायरता पूर्वक न मरे।

तेल-बाती-पात्र-माचिस से प्रज्वलित दीपक तेज हवा के झोंकों से बुझ जाता है। सुदृढ़ विशाल पोत प्रबल तूफान से डूब जाता है। यह आकस्मिक दैवी आपदा है। दैवी विपत्ति के समय तो बुद्धि को स्थिर रखने की आवश्यकता होती है। विष्णु शर्मा के ही शब्दों में-

'याते समुद्रेऽपि हि पोतभंगे सांयात्रिको वाञ्छति तर्तुमेव'। जब किसी पोतवाही का पोत समुद्र में भग्न होकर डूबने लगता है तब वह जीवन रक्षा के लिए सभी उपायों का इस्तेमाल करते हुए तैर कर समुद्र को पार करना चाहता है। इसी प्रकार बुद्धिमान् लोग विपत्ति को देखकर घबराते नहीं अपितु धैर्य से उसका मुकाबला करते हैं।

भवितव्यता की प्रतिकूलता के कारण होने वाली मानसिक अशान्ति को दूर करने के लिए स्थिर बुद्धि से शान्ति को अपनाए रहना है। चित्त की स्थिरता से ही बुद्धि से कोई उपाय ढूढ़कर साहस पूर्वक सामना करना होता है। असंयम पूर्वक रहन-सहन से रोग होने से पूर्व ही नियमबद्ध विधि से अपना आहार विहार करना ही स्वस्थ रहने का एकमात्र उपाय है। उसी प्रकार रणक्षेत्र में शत्रु का मुकाबला करने के लिए उत्तम आयुध एवं कवच-रथ आदि की व्यवस्था करनी होती है। इसी प्रकार विशिष्ट उपायों से दैवी विघ्न भी रोके जा सकते हैं।

अथवा दैवी आपदा से ग्रस्त होने पर ईशोपासना विशिष्ट याज्ञिक अनुष्ठानों से क्रुद्ध प्रकृति को शान्त किया जा सकता है। अग्नि देव के लिए अग्निहोत्र में डाली गई हविषा को पहुँचाने और देवताओं व प्रकृति को सन्तुष्ट किया जा सकता है। 'न मानुषात् श्रेष्ठतमं हि किञ्चित्' मनुष्य काम-क्रोध अहंकारादि विकारों से स्वयं को शूद्र बना लेता है। अतः क्षमायाचना ही उपाय है।

संघर्ष एवं समर्पण से ही शान्ति

मानुषी विपत्ति का प्रतिकार एवं विजय संभव

मानुषीं कार्यविपत्तिं कौशलेन विनिवारयेत्-124

मनुष्य के कार्य से उत्पन्न विघ्नों को अपनी सतर्कता तथा बुद्धिकौशल से परास्त करे-हटाए।

कार्य त्रुटिहीन हो इसके लिए व्यक्ति की कार्य कुशलता के साथ-साथ सतर्कता भी आवश्यक है। शत्रु के द्वारा ईर्ष्या-द्वेष वश हमारी अपनी सम्पत्ति को आग देना, धनापहरण, विष देना, गुप्त षड्यन्त्र से कार्य में बाधा पहुँचाना आदि कार्यों को बुद्धि चातुर्य से रोकें।

कार्यविपत्तौ दोषान् वर्णयन्ति बालिशाः- 125

मूढ़ लोग कार्य में असफल होने पर अपनी त्रुटियों का पश्चात्ताप करते हैं जिन्हे पहले ही हटा दिया जाना चाहिए था। अथवा परस्पर एक दूसरे पर काम बिगाड़ने का दोष लगा कर स्वयं को निर्दोष सिद्ध करते हैं।

अग्रचिन्ता से ही कर्म में होने वाले दोषों के निवारण का प्रबन्ध करना ही बुद्धिमत्ता है। दूसरे पर काम बिगाड़ने का लांछन लगा देना, दोष थोपना सुकर है। विचारशील व्यक्ति कर्म विषयक दोषारोपण न करके उचित उपायों के खोजने-अपनाने में संलग्न हो जाते हैं-

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

कार्य सम्पन्न करने में किसी त्रुटि-दोष वश कमी आ ही जाती है। मूढ़ जन तो इस गल्ती पर व्यक्ति की हंसी उड़ाते हैं जबकि बुद्धिमान् उसे ठीक करने का उपाय सुझाते हैं। परन्तु मूर्खों को गुणदोष विवेचना का अधिकार नहीं होता।

गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः।
किमन्धस्यधिकारोऽस्ति रुप भेदोपलब्धिषु॥

अशास्त्रज्ञ को काव्य के गुण दोषों का ज्ञान न होने से उसके रुप व भेदों को कहने का अधिकार नहीं है, जिस प्रकार अन्धा रुप और उसकी कमियों को नही पहचान सकता। अतः दोषारोपण न करके केवल उन दोषों का समाधान किया जाना ही उचित है।

व्यवस्थापक दयालुता न बरते
कार्यार्थिना दाक्षिण्यं न कर्तव्यम्-126

कार्याधिकारियों या व्यवस्थापकों को भावुकता वश उदारता-दयालुता नहीं दिखानी चाहिए अपितु सख्ती से रोकना चाहिए। सरलता से काम नही बनते।

कुटिल विपक्ष का कभी विश्वास न करें अपितु उनके दोषों पर निगाह पड़ने पर उनके साथ दयालुता का व्यवहार कदापि न करें। अन्यथा राष्ट्र संकट की सम्भावना बनी रहती है।

नात्यन्तसरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वने तरुन्।
सरलास्तत्र छिद्यन्ते कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः॥

सीधे-सरल वृक्ष सहज ही कट जाते हैं वन में जाकर देखा जा सकता है कि टेड़े-मेड़े वृक्ष खड़े हैं और सीधे वृक्ष काट लिए जाते हैं। अतः विश्वास करके भी उनकी गतिविधियों पर नजर रखनी चाहिए।

न विश्वसेत् अविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत्।
कदाचित् कुपितो मित्रं सर्वं गुह्यं प्रकाशयेत्॥

यहाँ उदारता या भोलापन तो विचार शून्यता या बुद्धिहीनता का द्योतक है। भोले लोग सदा लोगों के कपट जाल में फंस जाया करते हैं। बुद्धिहीन लोगों के विचारशून्य मन

दुष्टों की दुष्टता को फूलने फलने देने वाले उपजाऊ क्षेत्र बन जाते हैं।

क्षीरार्थी वत्सो मातुरुधः प्रतिहन्ति-127

दुग्धपानार्थी गोवत्स को माता के स्तनों पर आघात करना पड़ता है।

जैसे दुग्धार्थी वत्स अपनी आवश्यकता वश अपनी माता के स्तनों पर निर्मम प्रहार करके दूध पीता है इसी प्रकार राष्ट्र पालनार्थी राजा राष्ट्र रक्षा नामक कठोर कर्म से विवश होकर, बाह्य दृष्टि से नृशंस समझे जाने वाला राजा अपने कापटिक तथा अभिचारिक प्रयोगों से राष्ट्र माता के द्रोहियों का पूर्ण विनाश तथा दमन करते समय, कठोर दिखने पर भी अपनी सत्यनिष्ठा से राष्ट्र माता को आनन्दित करता रहता है। वह देशद्रोहियों के साथ व्यवहार में असरल, अनुदार, सतर्क तथा उनसे पूरा बदला लेने वाला, उनके प्रति क्रोध को कभी न भूलने वाला, उनके माया जाल से बचे रहने के लिए सत्य को छिपाए रखने वाला, पाप की भर्त्सना के लिए कठोरभाषी, निर्दयव्यवहारी तथा पूरा कृपण बनकर रहता है। इस प्रकार किए बिना साधु परित्राण और असाधुदमन सम्भव नहीं है। पापदमन के व्यावहारिक क्षेत्र में सरलता-उदारता, भोलापन, क्षमा, अक्रोध, सत्य-प्रिय भाषण, दयालु व्यवहारादि सद्गुणों के प्रदर्शन का कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक गुण के प्रदर्शन के अलग-अलग क्षेत्र होते हैं। सरलता सरलों के साथ व्यवहार में लाने योग्य गुण है। असरल देशद्रोही लोगों को देशप्रेमी सत्यनिष्ठ स्वधर्मनिष्ठ लोगों से सरल व्यवहार पाने का कोई अधिकार नहीं है।

कार्य विनाश का कारण

अप्रयत्नात्कार्यविपत्ति र्भवति-128

कार्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण प्रयत्न न करने से कार्य का नाश हो जाता है

असफल होने वाले लोग

न दैवप्रमाणानां कार्यसिद्धिः-129

पहिले से ही विफलता की आशंका कर बैठने वालों के काम सिद्ध नहीं होते। या वो कोई नया काम ही प्रारम्भ नहीं कर पाते।

भाग्य के भरोसे रहने वाले पुरुषों का पुरुषार्थ निर्बल होकर रहता है। वो अपनी कर्मशक्ति को, तिनके के स्पन्दन तक से शंकालु कछुए के समान अपने अंगो को समेट कर बैठ जाते हैं और कोई भी नया काम नही छेड़ते।

कर्तव्य से भागने का दुष्परिणाम

कार्यबाह्यो न पोषयत्याश्रितान्-130

कर्तव्य से भागने वाला व्यक्ति स्वाश्रितों का भरणपोषण नहीं कर पाता।

कर्तव्यहीन व्यक्ति स्वभाव से ही काम से जी चुराने वाला होता है। वह अपने आश्रितों के प्रति भी उपेक्षा करता है। जब तक मनुष्य शिक्षा, रक्षा, शिल्प, वाणिज्य, कृषि आदि समाजोपयोगी कार्यों में अपने तन-मन-धन से जुट नहीं जाता तब तक वह अपने आश्रितों का पालन नहीं कर सकता और परिवार पर अपना प्रभुत्व नहीं रख सकता। ऐसा गैर-जिम्मेदार व्यक्ति निकम्मा समझा जाता है समाज की दृष्टि में।

यः कार्यं न पश्यति सोऽन्धः-131

जिसे अपने विवेक की आँख से अपना तात्कालिक कर्तव्य दिखता-समझ में नहीं आता, वह आँखों के रहते हुए भी अन्धा है।

स्व कर्तव्य विषयक कर्म को अनदेखा करना ही अन्धापन है। 'अविश्रमो लोकतन्त्राधिकारः'- शासन सम्बन्धी कर्म करने वालों के पास प्रतिक्षण अनेकानेक स्वकर्तव्य विषयक समस्याएँ उपस्थित होती रहती हैं। सम्मुख आजु-बाजु उपस्थित समस्याओं को अनदेखा करना तो अन्धेपन का ही प्रमाण है। ऐसे में राजकाज के बिगड़ने की पूरी सम्भावना है। इससे राजकर्मचारी के स्वेच्छाचारी होने की सम्भावना तथा प्रजा में रोष तथा राज्य की हानि होनी सुनिश्चित है।

कर्तव्यनिश्चय के साधन

प्रत्यक्षपरोक्षानुमानैः कार्याणि परीक्षेत-132

सम्मुख उपस्थित, अनुपस्थित साधनों तथा अनुमानों द्वारा विचार करके कर्तव्यों का निर्णय-निर्धारण करे।

कौन से साधन, कितने अपेक्षित, आवश्यक, उपयोगी है, कितने संग्रह करने योग्य हैं, कितने उपलब्ध हैं या नहीं, कहाँ से मिल भी सकते हैं या नहीं इत्यादि सभी बातों का विचार मनुष्य को कार्य प्रारम्भ करने से पहले ही विचार लेने चाहिए। इन सभी बातों पर विचार कर लेने से हानि या असफलता की संभावनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

अपरीक्ष्यकारिता की हानि

अपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति-133

श्री-ऐश्वर्य-सफलता बिना विचारे काम करने वालों को त्याग देती है।

''बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताए, काम बिगारे आपनो, जग में होत हसाए।'' का कथन अक्षरशः सत्य है। लोभ या स्वार्थ वश आरम्भ किया गया कार्य अनेक बार सोच समझ

कर ही प्रारम्भ किया जाना चाहिए। अपने उद्योग में कार्यतत्परता दिखाने मात्र से काम नही बनता। अनिवार्य रुप से हानि-लाभ यश-अपयश विचार कर ही कार्य किया जाना चाहिए। कार्य से पूर्व कार्य का लक्ष्य-ध्येय-उद्देश्य सत्यासत्यता, अपना बलाबल, साधन, सहयोगी, आय-व्यय, देश-काल की परीक्षा करनी चाहिए।

परीक्ष्य तार्या विपत्तिः-134

पूर्वपरीक्षण से विपत्ति हट जाती है।

विपत्ति विचारशील का कुछ नहीं बिगाड़ सकती। विपद् वारण में विचार ही मनुष्य की रक्षा करते हैं। बुद्धि और शक्ति के संयोग में विचार से ही वैभव-ऐश्वर्य-प्रभुत्व प्राप्त होता है।

सम्पत् के साथ आपद्-विपद् स्वयमेव आ जाते हैं। आपद् के आने पर इसी विचार शक्ति से ज्ञात करो कि इस विपत्ति का कारण और निवारण क्या है। विपद् वारण की कला विचारने से ही उत्पन्न-उद्भूत होती है। जितने भी महापुरुष हुए हैं उन्होंने भी अपनी विचार शक्ति से ही विजय प्राप्त की है।

स्वशक्तिं ज्ञात्वा कार्यमारभेत-135

अपनी शक्ति को जानकर ही कार्य को आरंभ करें। स्वयं सभी प्रकार की जानकारी जुटा कर किसी भी प्रकार के मिथ्या भ्रम में न रह कर अपने तन-मन-धन की सामर्थ्य के अनुसार ही कार्य आरम्भ करें।

अपनी शक्ति के बाहर काम न करने में ही मनुष्य की भलाई है। 'तेते पाँव पसारिए जेती लाम्बी सौर'। 'जितनी शक्ति उतना काम, उससे अधिक दुःखों का धाम'। इस कथन का तात्पर्य है की शक्ति ही कर्तव्य की सीमा है। अपनी शक्ति को पहचानना ही तुम्हारा कर्तव्य है। पहले अपने तन-मन-बुद्धि को तोलो तब बोलो और करो।

राजनीति में प्रभाव, उत्साह तथा मन्त्र भेद से शक्ति तीन प्रकार की मानी जाती है। कोष, दण्ड तथा बल ये तीन प्रभुशक्ति-प्रभावजनक शक्ति कही जाती है। विक्रम तथा बल ये दो उत्साह शक्ति नाम की दूसरी शक्ति कही जाती हैं। पाँचों अंगो से सम्पन्न मन्त्र मन्त्रशक्ति तीसरी शक्ति है। राजा इन तीनों शक्तियों से युक्त रह कर राजकाज करे।

अमृतभोजी मानव

स्वजनं तर्पयित्वा यः शेषभोजी सोऽमृतभोजी-136

अपने कमाई में स्वजनों बन्धुओं अतिथियों, स्वाश्रितों, दीन दुःखियों तथा समाज कल्याण कारी संस्थाओ का भरण-पोषण करने के बाद शेष धन से जीवन निर्वाह करने वाले लोग अमृतभोजी होते हैं।

'केवलाघो भवति केवलादी' 'भुञ्जन्ति तु तेऽघं पापं ये पचन्ति आत्मकारणात्' के कथनानुसार केवल अपना पेट पालने वाले पाप ही का भोग करते हैं।

आय बढ़ाने के उपाय

सर्वानुष्ठानादायमुखानि वर्धन्ते-137

राष्ट्र में भूमि, धन, व्यापार, शिल्प आदि सभी प्रकार के राष्ट्र हितकारी कर्तव्यों के सुसम्पन्न होते रहने पर ही राज्य की आय के द्वार बढ़ते हैं।

जो राज्याधिकारी प्रजा का शोषण करके केवल अपनी जेब भरना अपना ध्येय बनाकर और राज्य की कर्म शक्ति बढाने के लिए अपेक्षित उद्यम नहीं करते उनकी राज्यश्री वृद्धि होने की कोई आशा नहीं होती। उनका संचित धन तो खर्च होने से कम होने लगता है और आय के साधन और सम्भावनाएँ घटने लगती हैं।

कायर पुरुष की कर्तव्यहीनता

नास्ति भीरोः कार्यचिन्ता-138

भीरु पुरुष को अपनी कार्य की कोई चिन्ता नहीं होती, कर्तव्यहीनता का कोई न कोई बहाना बना लेता है।

कायर पुरुष शत्रुदमन करने में असमर्थ होता है। कायर व्यक्ति में कार्य करने की हिम्मत नहीं होती। कार्य के बिगड़ने का उसे हमेशा ड़र लगा रहता है। अतः वह किसी कार्य के बारे में सोचता ही नहीं है, अकर्मण्य होकर बैठा रहता है। डरपोक आदमी संशयी होता है, उसे हरदम अनिष्ट की शंका बनी रहती है गीता में कहा गया है- 'संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् संशय करने वाला मनुष्य नष्ट हो जाता है।

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति॥

जो मनुष्य इस संशय में पड़ा रहता है कि कोई कार्य करने में उसका इष्ट होगा या अनिष्ट होगा, वह यह नहीं देखता कि उस कार्य से क्या लाभ हो सकता है। परन्तु जो मनुष्य संशय को दूर करके, अपने जीवन की भी परवाह नहीं करता वह लाभ प्राप्त करता है। चाणक्य नीति में ही कहा गया है-

प्रभूतं कार्यमपि वा तन्नरः कर्तुमिच्छति।
सर्वारंभेण तत्कार्यं सिंहादेकं प्रचक्षते॥

मनुष्य कितना भी बड़ा कार्य क्यों न करना चाहता हो, उसे सारे विघ्नों की चिन्ता छोड़कर सिंह के समान निर्भय होकर कार्य करना चाहिए।

गांधी जी यदि इस संशय में पड़े रहते कि ब्रिटेन जैसे शक्तिशाली साम्राज्य से टक्कर लेने में खतरे ही खतरे है, टक्कर लेनी चाहिए या नहीं, तो भारत स्वाधीनता प्राप्त नहीं करता।

धेनोः शीलज्ञः क्षीरं भुंक्ते - 140

स्वामिनः शीलं ज्ञात्वा कार्यार्थी कार्यं साधयति-139

कार्यों में नियुक्त लोग अपने आश्रयदाता स्वामी की रुचि को पहचान कर तदनुसार कार्य किया करते हैं।

स्वामी शब्द का अभिप्राय है जिस सम्पत्ति या राज्य का वह स्वामी है और उसके अधीन अनेक नौकर-चाकर काम करते हैं। अथवा सरकार-संगठन-संस्था व्यापारिक अथवा औद्योगिक प्रतिष्ठान आदि जिसके अधीन कर्मचारी, कार्यकर्ता, श्रमिक हों।

जो नौकर अपने स्वामी के स्वभाव आदतों-सनक की पसन्द नापसन्द को और रुचि को जानता हो, वह उसके सारे काम बखूबी कर सकता है। उसे हर बात-काम के लिए बताना-समझाना-हाँकना-डाँटना-डपटना आवश्यक नहीं होता।

इसी प्रकार जो सरकारी कर्मचारी या संगठन-संस्था से जुड़े कार्यकर्ता या व्यापारिक प्रतिष्ठान में काम करने वाले या उद्योग के श्रमिक यह महसूस करते कि सरकार की क्या चाहत-जरुरत है या अधिकारियों-प्रबन्धकों का क्या उद्देश्य है, वे ही अपना काम ठीक तरह से कर सकते हैं। एक मुहावरा है- 'एक बोली तीन काम' अर्थात् जो नौकर अपने स्वामी के आदेश को समझता है वह उससे सम्बद्ध सारे काम बिना कहे ही कर देता है। परन्तु यदि नियम-कानूनों की दुहाई देते हुए यदि नौकर काम को अपूर्ण ही छोड़ देता है तो बात नहीं बनती-निभती।

इसी बात को गाय के उदाहरण से समझाया गया है। जो आदमी गाय के स्वभाव को जानता है, वह उसे अच्छी तरह से दोह सकता है। गाय कभी-कभी लात मार कर दूध भी नहीं निकालने देती, सींग मार कर पास भी नहीं आने देती, पर दोहने वाला यदि उसे सहलाए-पुचकारेगा तो ही उसका दूध दोह-निकाल सकेगा- लात खाय पुचकारिए होय दुधारु धेनु।

यह कहा जा सकता है कि काम करने वाले और काम कराने वाले में सामञ्जस्य adjustment-undrstanding होना चाहिए।

क्षुद्रे गुह्य प्रकाशनं आत्मवान्न कुर्वीत।-141

मतिमान्-धीमान् व्यक्ति मन्दमति-नीच अनुचर को अपनी गोपनीय रहस्य को न बताए।

फूटे बर्तन में पानी नहीं रुकता उसी प्रकार क्षुद्र के पेट में रहस्य की बात नहीं पचती। गुह-गुप्त बात तो उसके पेट में उमड़-घुमड़-गुड़गुड़-गड़बड़ मचाए रखती है और जब तक

सौ व्यक्तियों को बता न दे उसे चैन नहीं पड़ता। रहस्य का प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है और अनर्थ हो जाता है।

विचित्रता यह है कि किसी बात, रहस्य को प्रकट करने की तड़प आदमी के मन में तभी पैदा होती है जब उसे कहा जाए कि यह गुप्त बात है और किसी को नहीं बतानी। मामूली बात सुनकर ऐसी तरंग मन में नहीं उठती। यह एक मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है जिसे Instinct of contrasuggestion अर्थात् निषेध-निरोध के प्रतिरोध की सहज मनोवृत्ति कहते हैं। बच्चों और कच्चे मन-बुद्धि की भी यही प्रवृत्ति रहती है।

मृदुस्वभाव से हानि

आश्रितैरप्यवमन्यते मृदुस्वभावः- 142

मृदूस्वभाव का व्यक्ति अपने आश्रितों से भी अनादर पाता है।

प्रबन्धन के काम में, अपात्रों का डाँटने तथा सुपात्रों का आदर करने की दृढ़ता अनिवार्य रुप से होनी चाहिए। परन्तु ये मृदुस्वभावी लोग ही अनिवार्य रुप से अपात्रों का चयन कर लेते हैं उन कर्मचारियों का जो कुछ ना नुकर नहीं करते और सुपात्रों के चयन से वञ्चित हो जाते हैं।

प्रबन्धन विषयक कार्यों में कुछ समस्याएँ ऐसी ही होती हैं जिन में सभी कर्मचारियों को प्रसन्न नहीं रखा जा सकता। अनुचित काम-बात करने वाले कर्मचारियों को डाँटना भी पड़ता है तो उनके रुष्ट होने की परवाह नहीं करनी चाहिए। बुरों का भी भला चाहने वाले मृदु स्वभाव वाले सफल शासक नहीं बन सकते। प्रबन्धक को अनुचित काम-बात करने वाले का दमन भी करना पड़ता है। उसके लिए प्रबन्धक को दृढ़ता और सत्यनिष्ठा नहीं त्यागनी चाहिए। उसे दुष्ट पक्ष का सदैव विरोध करना चाहिए।

लघु अपराध में कठोर दण्ड से हानि

तीक्ष्ण दण्डः सर्वेरुद्वेजनीयो भवति-143

लघु अपराध में कठोर दण्ड़ देने वाला शासक सबकी घृणा का पात्र तथा अपने प्रभावी क्षेत्र में उपद्रव खड़ा करने का कारण बन जाता है।

राजा को राज्य में शासन व्यवस्था बनाए रखने के लिए अपराधियों को अपराधानुसार उचित दण्ड देना ही पड़ता है आर्थिक अथवा शारीरिक दण्ड।

अकार्य कार्यों में प्रवृत दुर्जन लोभ-ईर्ष्यावश जो भी अनैतिक-असामाजिक कार्य करता है उसको दण्ड अनिवार्यतः दिया ही जाना उचित है। राज्य शासक के द्वारा दण्ड विषयक विचार बड़ी सावधानी पूर्वक किया जाना चाहिए जिससे दण्ड औचित्य की सीमा का लंघन न हो और न्यून भी न हो। उसे यह ध्यान रखना ही चाहिए कि आततायी के साथ मृदु व्यवहार न किया जाए।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥ मनु

आततायी को आता देखकर और इसके आततायी होने का निश्चय हो जाने पर तुरन्त मार डाले बिना झिझक के। आततायी के वध से हन्ता को कोई दोष नही लगता। रक्षात्मक आक्रमण करने वाला आक्रमणजन्य वध का अपराधी नहीं होता।

दण्डानुसार दण्ड में औचित्य

यथार्हदण्डकारी स्यात्-144

उचित यही है कि राजा यथायोग्य दण्ड देने वाला हो।

उचित दण्डकारी ही सफल शासक बन सकता है क्योंकि कठोर दण्ड जनता में उद्वेग व राजद्रोह फैलाता है। इसलिए दण्ड में अपराध की गुरुता-लघुता का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। लघु अपराध में गुरु दण्ड, निरपराध में तीव्र या लघु दण्ड, गुरु अपराध में लघु दण्ड या दण्ड भाव न होनें का पूरा ध्यान रख जाना चाहिए, जैसा कि कहा भी गया है-

अदण्डयान् दण्डयन् राजा दण्डयोश्चैवाप्यदण्डयन्
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति।
अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्वतः।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्डयेषु पातयेत्॥

राजा दण्डनीयों को दण्ड न देने और अदण्डनीयों को दण्ड देने से बड़ा अपयश पाता है और कष्टपरम्परा में उलझ जाता है। राजा पहले तो अपराध के कारणों को और परिस्थितियों और काल को देखे और फिर अपराधी के दण्ड सहन करने की शक्ति और अपराध के स्वरुप तथा उसके राष्ट्र पर पड़ने वाले प्रभाव को समझ कर दण्ड दे। मनुस्मृति में कहा गया है-

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यं च परत्तापि तस्मात्तत् परिवर्जयेत्॥

क्योंकि अधर्मपूर्वक दिया हुआ दण्ड, यश, कीर्ति तथा सुख तीनों को नष्ट कर डालता है इसलिए अधर्मपूर्वक दण्ड देने से बचें। कल्पतरु में कहा है-

दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं विधानतः।
कामं संरक्षते तस्मात् त्रिवर्गो दण्ड उच्यते॥

क्योंकि दण्ड ही धर्म-अर्थ तथा काम तीनों का वैधानिक संरक्षक है, इसलिए दण्ड को ही त्रिवर्ग कहा जा सकता है। कल्पतरु में यह भी कहा गया है- **राजदण्डभयात् पापाः लोकाः पापं न कुर्वते-**

पापी लोग राजदण्ड के भय से पाप से रुकते हैं। यही मनु ने भी कहा है। सोमदेव सूरी ने तो अति सुन्दर ढ़ंग से कहा है-

'चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्ड:'– जैसे चिकित्सा शास्त्र दोषसमूह को नष्ट कर देता है, इसी प्रकार अपराधियों को दिया हुआ दण्ड उनके सकल दोषो को धो डालता है। गर्ग ने भी कहा है–

अपराधिषु यो दण्डः स राष्ट्रस्य विशुद्धये।
बिना येन न सन्देहो मात्स्यन्यायः प्रवर्तते।
शूले मत्स्यानिवाभक्षयन् दुर्बलान् बलवत्तराः।।

अपराधियों को दिए दण्ड से राष्ट्र की शुद्धि होती है। यदि उन्हें दण्ड नहीं मिल पाता तो संसार में मात्स्यन्याय चल पड़ने में कोई सन्देह नहीं रहता। तब बलवान् दुर्बलों को काँटे में मछलियों के समान बींधकर भून डालते हैं। इस कारण से यथायोग्य दण्ड देने वाला बनें।

अगम्भीरता से हानि

अल्पसारं श्रुतवन्तमपि न बहुमन्यते लोकः– 145

लोक अगम्भीर मनुष्य के विद्वान् होने पर भी उसे प्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखता।

जिस विद्वान् की विद्वता दूसरे के हृदय को प्रभावित करने में सफल नहीं हो पाती, वह उसके अपने स्वभाव पर भी अपना प्रभाव डालने में असमर्थ ही रह जाती है। विद्या यदि सच्ची हो तो उसे मनुष्य के हृदय और स्वभाव दोनों ही पर प्रभावशालिनी होकर रहना चाहिए। विद्या जब तक विद्वानों के हृदयों और स्वभावों में स्थान नहीं ले पाती, तब तक वह विद्या का दुरुपयोग ही है। उनकी विद्या रोगोत्पादक अजीर्ण भोजन के समान, उनकी अप्रतिष्ठा का कारण बनती है।

बहुतों का कर्तापन–मुखियापन कार्यनाशक

सारं महाजनः संग्रहः पीडयति – 145 क

महाजनसंग्रह अर्थात् किसी राजकाज के विषय में बहुतों का सम्मिलित होना (अर्थात् कर्तापन होना) उद्देश्य को नष्ट कर डालता है।

राष्ट्र के प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों में बहुमत संग्रह करवा कर मतदाताओं के हाथ में राजतन्त्र सौंप देना राजकाज की गुणवत्ता सारवत्ता को नष्ट करता है। ऐसा करने से राजकीय निर्णयों में से औचित्य निकल जाता है तथा स्वार्थरुपी अनौचित्य आ घुसता है। प्रबन्ध सम्बन्धी प्रमुख निर्णय बहुतों के निर्णय से असार हो जाते हैं।

अल्पज्ञों के बहुमत से उसके अज्ञात विषय पर सम्मति लेकर कोई नियम या कर्तव्य शास्त्र बनाना संकटपूर्ण, घातक, अशास्त्रीय परिपाटी–परम्परा है। ''Too many cooks spoil the brooth.'' राष्ट्र का विधान बनाने या राष्ट्र प्रबन्ध सम्बन्धी गम्भीर प्रश्नों का समाधान करने के सम्बन्ध में मतभेद रखने वाले, भिन्न–भिन्न स्वार्थी सम्प्रदायों, दलों या व्यक्तियों को

सम्मिलित कर लेना (अर्थात् उनका कर्तापन सम्मिलित कर लेना) तो उसका उद्देश्य नष्ट कर लेने वाला हो जाता है। राष्ट्र शक्तिमान् तब ही रह सकता है जब कि राष्ट्र की प्रतिनिधि राज्य शक्ति को शक्तिमान् बनाकर रखा जाए। व्यवस्थानिर्माताओं तथा व्यवस्थाकर्ताओं का ऐक्यमत्य ही निर्दोष राजशक्ति होती है। राजशक्ति में भिन्न-भिन्न राजनैतिक मन्तव्य रखने वालों का सम्मिलित रहना तो स्पष्ट ही राजशक्ति की निर्बलता है। राजशक्ति की निर्बलता राष्ट्र की ही निर्बलता है। यह निर्बलता राष्ट्र के ध्वंस का कारण बन जाती है। राष्ट्रप्रबन्धकों तथा व्यवस्था कर्ताओं का ऐकमत्य राष्ट्र की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। जब राज्य संस्था में इस प्रकार के प्रतिनिधि सम्मिलित रहते हैं तब ही राष्ट्र की हिताकांक्षा व्यक्तिगत हिताकांक्षा के समान निर्भेद होकर एकाकार बनी रहती है। राष्ट्र के सच्चे हितैषी निःस्वार्थी प्रतिनिधियों के व्यक्तित्व की भिन्नता भी, पारस्परिक विरोध का कारण न बना कर समस्त राष्ट्र संस्था को एकमत्य या एकसूत्र में बाँधकर डालने वाली बन जाती है और राष्ट्र के प्रत्येक प्रतिनिधि के मन में राष्ट्रहितैषिता सशरीर होकर आ विराजती है। यदि राष्ट्रव्यवस्था को लोककल्याणकारी बनाना हो तो उसके सच्चे राष्ट्र हितैषियों की सर्वसम्मति से होना आवश्यक है। यदि राष्ट्रव्यवस्था के विषय में मतभेद रह जाता है तो उसमें वह सर्वजनहितकारिता नहीं रह सकती जो कि राष्ट्रव्यवस्था की अनिवार्य आवश्यकता है।

इस दृष्टि से अल्पमत के विरुद्ध बहुमत को मान्यता देने की परिपाटी राष्ट्र व्यवस्था के सर्वजनहितकारी होने के सिद्धान्त के विरुद्ध सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार का बहुमत एकत्रित कर लेना, राष्ट्र के अल्पमत वाले भाग पर आक्रमण करने वाली मनोवृत्ति है। यह सेवाभाव वाली मनोवृत्ति नहीं है। राष्ट्र सेवक ही राष्ट्र के कर्णधार होने की योग्यता रखते हैं। बहुमत को राष्ट्र का कर्णधार बनाने की कल्पना-प्रथा-पद्धति अभारतीय है। भारतीय एकतन्त्रवाद में यद्यपि ऊपरी तौर से देखने में राज्यव्यवस्था का कर्णधार राजा ही एक मात्र व्यक्ति दीखता है, परन्तु वह अपने मन्त्री, दूत, पुरोहित, राजगुरु, सेनापति आदि राष्ट्र के योग्यतम सहयोगियों के रुप में राष्ट्र के हितैषियों को अपने प्रगाढ़ सम्पर्क में रखकर, स्वयं को ही राष्ट्र का मूर्तिमान कल्याण बनाकर राजकार्य का सुचारु, रुप से परिचालन करता रहता है। बाह्यदृष्टि से राजा के अकेले दिखने पर भी, उसके अकेलेपन में समग्र राष्ट्र का ऐक्यमत सम्मिलित होता है।

राष्ट्रव्यवस्था के लिए राष्ट्रहितैषियों की सर्वसम्मति ही योग्यतम परिपाटी है। सच्चे व्यवस्थापकों में राज्यव्यवस्था सम्बन्धी आलोचना में मतभेद होने पर भी निर्णयावस्था में मतैक्य या अविरोध हो जाना अनिवार्य है। जिनमें अन्त तक मतभेद रहता है वे लोग वस्तुतः व्यवस्था के अयोग्य होते हैं। मतविरोध राष्ट्रघाती स्थिति है। अल्पमत की उपेक्षा करके बहुमत के अनुसार राष्ट्रव्यवस्था करने की परिपाटी सचमुच विनाशक, अनार्य, आसुरी परिपाटी है।

दुर्भाग्यवश सर्वसम्मति से राष्ट्रव्यवस्था करने की भारतीय परिपाटी को तो त्याग दिया गया है और योरोपीय राजनीति का अनुकरण एवं अनुसरण किया जा रहा है। यह परिपाटी राज्यप्रबन्ध तथा नियम विधान दोनों में से सारवता या औचित्य को निश्चित रुप में लुप्त कर देती है। अतः गिने चुने विशेषज्ञों के सम्मति से शासन चलाने में राष्ट्र कल्याण है न कि अल्पज्ञों की भीड़ जुटाकर जिन्हें फुसला कर इनके मतों को खरीद कर उत्तरदायित्व विहीन अप्रमाणिक व्यक्तियों से देश की व्यवस्था चलवाना तथा राज्य प्रबन्ध में सम्मति लेना है।

शक्ति से अधिक भार उठाने से हानि

अतिभारः पुरुषमवसादयति–146

शक्ति से अधिक कर्म का भार मनुष्य को थका–क्लान्त करके उसके कर्म को अनिवार्य रुप से निष्फल बना देता है।

इस प्रसंग में अतिभार तथा उचित भार का स्वरुप निश्चित किया जाना चाहिए। वस्तुतः उत्तरदायित्व ही भार होता है। यह भार शारीरिक न होकर मानसिक होता है। कर्ता अपने विवेक से किए कर्म का उत्तरदायी होता है। अविवेक से किया गया कार्य व्यक्ति को थका डालता है और सन्तोषप्रद न होकर दुःख का कारण बन जाता है। भौतिक कर्म का फल कभी मिलता है कभी नहीं भी मिलता और जब वह नहीं मिलता तो फलाकांक्षी मानव का दुःखी होना स्वाभाविक है। मनुष्य को यह नहीं भूलना चाहिए कि उसका अधिकार सीमा का लंघन करना या भूल जाना और फल की अनुचित इच्छा करना ही कर्म का अतिभार है। अपनी कार्य नीति से विवेक को सन्तुष्ट रखना ही मनुष्य का कर्तव्य है और यही उसका उत्तरदायित्व है। अपने विवेक को सन्तुष्ट रखने वाले इस प्रकार के फलाकांक्षी मनुष्य का कर्मोत्साह, आग्रह पूर्वक अपनाए जाने वाले, स्वयं ही अपना फल बन जाने वाले, बड़े से बड़े कर्तव्य को सुखसाध्य बनाकर उसके सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है।

शक्ति से बाहर कर्मभार पुरुष के कर्मोत्साह और कर्म दोनों को नष्ट कर देता है। शक्ति ही बोझ उठाने की मर्यादा है। शक्ति से बाहर कर्मभार किसी पर लादना या स्वयं उठाना, कर्तव्य से अपरिचय तथा कर्तव्य भ्रष्टता है। कर्तव्य तो सामर्थ्यानुसार ही होना चाहिए। कर्तव्यनिष्ठ को सामर्थ्याधीन कर्तव्य में अटूट उत्साह रहता है। वह कर्तव्यपालन की सन्तोष रुपी सफलता को हस्तगत देखकर विजयोल्लास से परिपूर्ण रहता है। मनुष्य को सामर्थ्य से परे फलाकांक्षी बनकर कर्तव्य नहीं अपनाना चाहिए क्योंकि फल मनुष्य की शक्ति से परे है– ''अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः''– शक्ति से बाहर काम का बोझ उठाना विनाश का मूलकारण होता है।

सभा में व्यक्तिगत कटाक्ष हानिकारक है

यः संसदि परदोषं शंसति स स्वदोषबहुत्वं प्रख्यापयति-147

जो राजसभा में दोषालोचना प्रसंग में शत्रु की निजी दोषालोचना करता है तो वह भरी सभा में स्वयं को भी अपराधी घोषित कर देता है।

राजसभा में सार्वजनिक कल्याण की भावना से कर्त्तव्य निर्णय किया जाता है। यह स्थान इसी प्रयोजन के लिए होता है। इसमें सम्मिलित होने वाले राष्ट्रसेवकों की योग्यता इसी में मानी जाती है कि वे राष्ट्र के पूजार्ह किसी भी व्यक्ति के प्रति अपनी व्यक्तिगत शत्रुता को अपने हृदय में स्थान न देकर सार्वजनिक कल्याण की भावना से राजतन्त्र का संचालन-परिचालन करें और इसके लिए कर्तव्य का निर्णय करने में अपनी विचार शक्ति को उपयोग में लाकर न्याय को ही सर्वोपरि स्थान देकर राज्यतन्त्र में सहयोग दें। इस आदर्श को उपेक्षित करके, अपने अधिकार का दुरुपयोग करने वाले व्यक्ति राजतन्त्र में सहयोग देने के अयोग्य राष्ट्रद्रोह नामक अपराध के अपराधी बन जाते हैं।

जो सभा में किसी व्यक्ति के पक्ष का खण्डन न करके, उसके कार्यों के दोष तथा उसके दुष्परिणामों पर प्रकाश न डाल कर, उसके व्यक्तिगत दोष दिखाने या व्यक्तिगत आक्षेप-आक्रमण करने पर उतर आता है, वह अपने आप को सभा में किसी पक्ष के समर्थन के अयोग्य होने से सभा में भी सम्मिलित होने तथा सभा को किसी यथार्थ निर्णय पर पहुँचाने के अयोग्य घोषित कर देता है।

सभा में दोषी व्यक्ति या सदोष पक्ष के प्रतिनिधि पर व्यक्तिगत आक्रमण न करके, उसके कार्यों की सदोषता तथा उससे होने वाले दुष्परिणाम सप्रमाण दिखाकर सभा की सभ्य भाषा में उन्हीं की पूर्ण भर्त्सना करनी चाहिए। सभा में नम्र, उदार, सारपूर्ण, सभ्य, तर्कसंगत, गंभीर, अकाट्य भाषा का प्रयोग करना चाहिए। यह बड़ी गर्हित परिपाटी है कि सभा में किसी वक्तव्य के समय किसी पर व्यक्तिगत कटाक्ष जैसे हल्के अस्त्रों से प्रतिपक्षी का मुख मुद्रण करना चाहे और संसद के किसी निर्णय पर पहुँचने के मुख्य उद्देश्य को पीछे धकेल दिया जाये।

ऐसा करने से संसद न रह कर मल्लयुद्ध का अखाड़ा बन जाती है और उसका मुख्य उद्देश्य नष्ट हो जाता है। संसद की बैठकें सदा नहीं होती। वे जब कभी हो तब समस्त सदस्यों की एकाग्र चिन्तन शक्ति के पूर्ण सदुपयोग से विचारणीय विषय का सारभाग मक्खन के समान उद्धृत होकर सबको प्राप्त हो, इस बात का सभा संचालकों को पूरा ध्यान रखना चाहिए और व्यक्तिगत कटाक्ष करने वाले वक्ता को बोलने से रोक कर किसी दूसरे योग्य वक्ता को प्रकृत पक्ष के प्रतिपादन का अवसर देना चाहिए। सभा में व्यक्तिगत दोष दिखाने पर उतर आने

वाला व्यक्ति अपने इस आचरण से सिद्ध करता है कि उसके पास विचारणीय पक्ष को अनुचित सिद्ध करने वाली युक्ति नहीं है। वह अपने नीच क्षूद्र ढंग से प्रतिपक्षी को अवसर दे देता है कि वह भी सभा के समाने उसके व्यक्तिगत दोषों को खोल कर रखे। दूसरे के व्यक्तिगत दोष दिखाने का परिणाम प्रतिपक्षी से अपने दोषों का बखान कराना होता है।

जब सभा में किसी मुनष्य को पर-दोष दिखाना मात्र पाओ तब निश्चय ही यह जानो कि वह अपने दोष हटाने की अपेक्षा अपने दोषों की अधिकता को सिद्ध कर रहा है। जिन लोगों का लक्ष्य निर्दोष रहना होता है उनके वक्तव्य में पर-दोषदर्शन नहीं होता। परदोष दर्शन लक्ष्य वालों को अपने दोषों की उपेक्षा करना अनिवार्य हो जाता है। कहा भी जाता है कि-

यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय॥

यदि तुम संसार को एक ही कर्म से वश में करना चाहते हो तो अपनी वाणी रुपी गाय को दूसरे के दोष रुपी फसल चरने से रोको।

गैर की आँखों के तिनके पै नजर पड़ती है।
अपनी आँखों का नजर आता है शहतीर नहीं॥

अतः परदोषदर्शन को छोड़कर आत्मावलोकन करें-

बुरा जो देखन मैं चला मुझ से बुरा न कोय।

क्रोध करने से अपनी हानि

आत्मानमेव नाशयति अनात्मवतां कोपः-148

असंस्कृत मन वाले अविवेकी लोगों का क्रोध उन्हीं का विनाशक होता है।

हिताहित बुद्धि से शून्य लोग स्वभाव से मनमानी करने और कहने वाले होते हैं, वे सत्यद्रोही और दूसरों के प्रति अनादर भाव व्यक्त करने वाले होते हैं जिससे क्रोध व्यक्त होता है। अविवेकी अपना भौतिक, आर्थिक शारीरिक नुकसान करते हैं। क्रोध का प्रदर्शन अपनी अयोग्यता-असमर्थता से प्रदर्शित करते हैं। किसी अनुचित काम-बात के प्रति विद्रोह-विरोध प्रदर्शन केवल कुछ सीमित-अल्प समय-कालावधि के लिए हो तो फिर भी उचित है किन्तु अन्ततः आत्माभिव्यक्ति करने वाला हो जाता है अर्थात् अपने विद्रोही स्वभाव-प्रकृति को बताने वाला हो जाता है। क्रोध केवल असम्बद्ध-असंगत प्रलाप है।

संसार में ऐसा मनुष्य शायद ही कोई हो जिसे कभी क्रोध न आता हो। राग-द्वेष क्रोध के मुख्य कारण होते हैं। जो पदार्थ प्रिय हो वह न मिले या छिन जाए तो क्रोध के मुख्य कारण होते हैं। जिससे ईर्ष्या-द्वेष हो या लड़ाई-झगड़ा हो उस पर भी क्रोध आता है। कोई गाली दे या झूठा इलजाम लगाए तो वह भी क्रोध का कारण बन जाता है। सज्जनों को किसी भी अनुचित काम-बात पर क्रोध आता है।

क्रोध अपने आप में कोई क्रिया नहीं होती, केवल मानसिक प्रतिक्रिया होती है। यह स्वाभाविक है, किन्तु अनिष्ट तब होता है जब क्रोध में आकर मनुष्य कुछ अनुचित कह-कर बैठता है। यहीं पर मनुष्य के धैर्य और विवेक की परीक्षा होती है। राग-द्वेष से ऊपर उठा हुआ आत्मज्ञानी समत्व योग का साधक होने के कारण किसी पर क्रोध नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि-

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोपजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

जब मनुष्य विषय-भोगों में निरन्तर ध्यान करता है तो उन विषय वासनाओं में उसकी आसक्ति हो जाती है और तब आसक्ति से इच्छाएँ जाग्रत होती हैं और तब उन इच्छाओं-कामनाओं के अतृप्त होने से क्रोध उत्पन्न होता है तब क्रोध से मोह और मोह से स्मृति भंग-विनष्ट होती है और स्मृतिनाश से बुद्धिनाश होता है और बुद्धि नाश से मनुष्य पूर्णतः नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार आत्मज्ञानी यदि क्रोध कर बैठता है तो विवेक शून्य हो आत्म सन्तुलन खो बैठता है और संज्ञा शून्य हो जाता है। उचित उद्योग करने वाले पुरुषार्थी सत्यनिष्ठ मनीषी किसी भी वस्तु का अभाव नहीं महसूस करते। सत्य रुप सर्वश्रेष्ठ पथ-पद्धति को अपना लेने पर शेष सारी निस्सार वस्तुएँ स्वयमेव हट जाती हैं। साधु सत्पथ का प्रवर्तक होकर असार-सारहीन पदार्थों को अपने आस-पास से हटा-उड़ा देता है, उसकी सांसारिक सारहीन पदार्थों में रुचि नहीं रहती।

सत्य की महत्ता

नास्त्यप्राप्यं-सत्यवताम्-149

सत्यसम्पन्न व्यक्तियों के लिए कोई भी अप्राप्य वस्तु नहीं होती।

'सत्यमेव जयते नानृतम्' सत्य की ही जय होती है, असत्य की नहीं। यही देश का आदर्श सिद्धान्त भी है। धर्म में सत्याचरण की ही प्राणप्रतिष्ठा है। मानवीय व्यवहार भी सत्य पर टिका हुआ है। असत्यभाषी से कोई व्यवहार-विश्वास नही निभ पाता।

मनुस्मृति में भी धर्म के लक्षणों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्दिय निग्रह का परिगणन करते हुए मनुष्य के आवश्यक कर्तव्य धर्म बताए गए हैं। सत्य की महिमा सभी ने जानी-बताई है- 'नास्ति सत्यात् परो धर्मः'- सत्यपालन से ऊपर कोई धर्म नहीं है-

अश्वमेधसहस्रं च तुलया धृतम्।
अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

हजारों अश्वमेध यज्ञों तथा सत्य को तराजु में तोला जाय तो उन हजार यज्ञों से सत्य ही भारी होगा।

जैन आगमों में भी धर्म के जो दस लक्षण माने हैं उनमें सत्य को शामिल किया गया है। भगवान् बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया है– दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध तथा दुःख निरोधगामी प्रतिपद। इसी सत्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने अष्टांग मार्ग का उपदेश दिया। इस उपदेश का यही अभिप्राय है कि मनुष्य को इन उपदेशों का पालन करना चाहिए और असत्यभाषण आदि पाप कर्मों से दूर रह कर पवित्र जीवन बिताना चाहिए।

बाईबल–कुरान–गुरुग्रन्थसाहिब सभी धर्म ग्रन्थों का सार सत्याचरण है। मन–वचन कर्म की एकरुपता, शुद्धता सरलता ही सत्य का मूलाधार है। सत्य वचन का निर्वाह मन व तन की पवित्र क्रियाओं से ही होता है। वाणी के सत्य होने मात्र से भी निर्वाह नहीं होता उस में कर्णप्रियता का भी अंश होना चाहिए। सत्यवचन–कडुवा सच असह्य होने से अत्यन्त घातक होता है अतः

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियंच नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

मनुष्य के मन की अभिव्यक्ति वाणी से होती है जिससे समस्त जगद् व्यवहार चलता है और वही वाणी रुप माध्यम असत्य भाषण की कीचड़ से भरा हो तो सासांरिक जीवन निरन्तर अन्य–अन्य अनेकों दोषों से, पापकर्मों से घिरता जाता है। जीवन व्यवहार का पहला कदम 'सत्यं वद, धर्मं चर' के मार्गदर्शन से ही गुरु शिष्य का करता है।

इन्द्रियों में विशेषकर दर्शन और श्रवण शक्ति में विकार आने पर वाणी की मधुरता–सत्यता पर जिह्वा ही व्यवहार का साधन शेष रह जाती है। उसमें पांच अन्धों की गज वर्णन की कहानी कहें तो कोई सूंड को छूकर बाँस सा लम्बा, कोई पाँव छूकर खम्बे जैसा, कोई पूंछ पकड साँप–रस्सी जैसा, कोई कान पर हाथ पर फेर कर सूप–पंखे जैसा, कोई शरीर पर हाथ फेर कर पहाड़ जैसा बताता है। अतः अन्ध–गज न्याय से सम्पूर्ण सत्य न होने पर आंशिक सत्य भी दृष्टि भ्रम ही कहा जा सकता है सम्पूर्ण ज्ञान के अभाव के कारण।

सारांश यही है कि सत्य–मधुर वाणी के सेतु से ही संसार सागर के पार जाया जा सकता है अन्यथा तो घोर अन्धकार में डूब जायेगा यह जीवन।

अन्त में, महाभारत के शान्तिपर्व के उपदेशानुसार–

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम॥

सत्य बोलना अच्छा है परन्तु सत्य से अधिक अच्छा ऐसा बोलना जो हितकारी हो। जिसमें सब प्रणियों का अत्यन्त हित हो, वही मेरे मत में सत्य है। अतः सत्यनिष्ठ मनुष्य वही होता है जिसमें विवेक हो किस समय क्या बोलना चाहिए। वह तभी सम्भव है जब उसका हृदय शुद्ध, पवित्र तथा राग-द्वेष से रहित है। ऐसे सत्यव्रती को अष्ट सिद्धियाँ नौ निधियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

फर्ज के लिए झूठ भी सच

बात उस समय की है, जब अहमद शाह अब्दाली से महादजी सिंधिया का युद्ध चल रहा था। दोनों ओर से सैनिक वीरतापूर्वक लड़ रहे थे। लड़ते-लड़ते एक अवसर ऐसा आया जब सिंधिया बुरी तरह से घायल हो गए। उनके शरीर के लगभग हर अंग से खून बह रहा था और वे अचेत हो गए थे। ऐसी स्थिति में राणे नामक भिश्ती उन्हें अपने बैल पर युद्ध के मैदान से दूर एक जंगल में ले गया। वहां घने पेड़ों की ओट में उसने महादजी को लिटा दिया। फिर वह थोड़ा पानी लेकर आया और महादजी को पिलाया। तब उनकी चेतना लौटी। उन्होंने राणे को धन्यवाद दिया। तभी घोड़ों की टापों की आवाज सुनाई दी। राणे ने महादजी को वहीं बैठे रहने के लिए कहा और खुद आगे निकल आया। कुछ ही देर बाद घुड़सवार सैनिकों के एक दल ने राणे को घेर लिया और एक सैनिक ने उसकी गर्दन पर तलवार लगाते हुए कहा- सही-सही बता कि महादजी को तूने देखा है या नहीं वरना तेरी गर्दन इस तलवार से उड़ा दूंगा। राणे ने आसमान की ओर देखते हुए कहा- अल्लाह कसम मैंने उन्हें नहीं देखा। सैनिकों के जाने के बाद महादजी सिंधिया ने राणे से कहा- तुमने अल्लाह की झूठी कसम खाई? राणे ने उत्तर दिया- महाराज मेरे झूठ बोलने से आपकी जान बच गई। किसी बड़े मकसद के लिए बोला गया झूठ उतना ही नैतिक होता है, जितना सच। मुझे यकीन है अल्लाह मुझे जरूर माफ कर देगा। आपका सुरक्षित रहना हम सबके लिए बेहद जरूरी है। मैंने आपको बचाकर अपना फर्ज पूरा किया है। राणे की बात सुनकर महादजी ने उसे गले लगा लिया।

साहसेन न कार्यसिद्धिर्भवति-150

साहस-शारीरिक-भौतिक-शक्ति मात्र से काम नहीं बनता

कोई यदि पूछे कि 'अक्ल बड़ी या भैंस'? इस का स्पष्ट सा उत्तर है कि शारीरिक बल की अपेक्षा बुद्धि चातुर्य अधिक प्रबल है। छोटा सा खरगोश अपने बुद्धि चातुर्य से मदोन्मत्त शेर को बुद्धि बल से कुएँ में गिराकर समस्त वन्य प्राणियों को सुखी कर पाया।

शारीरिक बल को बुद्धि का नेतृत्व चाहिए अन्यथा साहस दुःसाहस बन जाता है जो अनुचित कार्य करवा डालता है। साहस कर्म में सहायक होने पर भी, आवश्यक होने पर भी केवल उसी से काम नही चलता उसके लिए अन्य भी बहुत से साधन अपेक्षित होते हैं।

साहसे लक्ष्मीर्वसति-150 (क)

लक्ष्मी साहस में वसती है।

लक्ष्मी नियत-निश्चित रुप से साहसियों के पास रहती है। साहस के संकट में पड़ने से मनुष्य का कल्याण नहीं रहता। सुबुद्धि के नेतृत्व में प्रयुक्त हुई स्थूल शारीरिक शक्ति में ही राज्यलक्ष्मी का वास होता है। दुष्कर कार्यों को करने में साहस के साथ-साथ धैर्यपूर्वक चिन्तन से सोत्साह आत्मसमर्पण करना पड़ता है तभी उसे अपना शुभ-कल्याण प्राप्त होता है-

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति॥

मनुष्य अपने आप को संकट में डाले बिना शुभ नहीं पाता। अपने को संकटमग्न बनाकर ही यदि जीवित बचता है तो भौतिक सुख के शुभ परिणाम का दर्शन करता है अन्यथा तो- 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्', गीता के शब्दों के अनुसार शुभकार्य के लिए मर मिटने पर नाम तो अमर हो जाता है।

कोरे साहस से काम नहीं बनता। बिना विचारे किया गया कार्य सफल नही होता-

उद्यमं साहसं धैर्यं विद्याबुद्धिपराक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र दैव सहायकृत॥

उद्यम, साहस, धैर्य, विद्या, बुद्धि पराक्रम ये छः जहाँ होते हैं वहाँ भाग्य भी सहायता करता है अर्थात् इन गुणों से मनुष्य अपने भाग्य को भी बदल सकता है और उसके कार्य सफल हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी काय को सफल बनाने के लिए साहस के अतिरिक्त अन्य गुणों की भी आवश्यकता होती है। निरे जोश में आकर हेकड़ी मारने से कार्य नहीं बनता।

व्यसनासक्ति से हानि

व्यसनार्तो विस्मरत्यप्रवेशेन-151

व्यसनासक्त मनुष्य ध्यानाभाव से कर्तव्य विमूढ़ हो जाता है।

व्यसनासक्त मनुष्य का बहिर्मुखी मन अपने बाहरी लगावों में लिप्त रहने से निरन्तरता के अभाव के कारण कार्यकुशलता खो देता है। कार्य कौशल निरन्तर अभ्यास से आता है 'अनभ्यासेन विषम विद्या'। मन-बुद्धि के भाव-विचार क्षणिक होते हैं उन्हें निरन्तरता से पैना-तीखा प्रगाढ़ बनाया जाता है अन्यथा तो वे ठहरते ही नहीं, निकल भागते हैं।

मनु ने आखेट, द्यूत (शतरंज–ताश आदि) दिवास्वप्न, परनिन्दा, विषयलोलुपता तथा मद आदि व्यसन गिनाएँ हैं। राजा या प्रजा–कोई भी व्यक्ति इन व्यसनों से बचे क्योंकि पवित्र संस्कार भाव नष्ट–भ्रष्ट होने से सात्विक विचार प्रवेश नहीं कर पाते, पर कार्य–अकार्य में मतिभ्रम होता है जैसे कि द्यूत के कारण कौरव–पाण्डवों की राजसभा में द्रौपदी का चीरहरण किया या होने दिया गया।

व्यसनों में समय बिताने से न केवल शक्तिक्षय एवं धनक्षय होता है अपितु कालक्षय भी होता है। और 'कालः पिबति तद्रसम्' के अनुसार समय नष्ट होने पर सफलता का अवसर हाथ से निकल जाता है।

समय के दुरुपयोग से हानि

नास्त्यनन्तरायः कालविक्षेपे–152

काल के दुरुपयोग में निर्विध्नता नहीं है। दीर्घसूत्रता से विध्न घेर लेते हैं।

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य समय को व्यर्थ के काम–बातों में बिताता–गवाँता है उसके कार्यों में विध्न पड़ जाते हैं। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जो काम समय पर न किया जाय और आगे के लिए टाल दिया जाए तो बाद में उसमें विध्न पड़ जाते हैं। तीसरा अर्थ यह हो सकता है कि उपयुक्त समय पर ही कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। उपयुक्त समय वह होता है जब परिस्थितियाँ अनुकूल हों। कर्तव्य कर्मों को ठीक समय पर न करके, उन्हें टालते चले जाने अर्थात् समय गंवाते चले जाने पर निश्चित रुप से विध्न आ खड़े होते हैं। कर्तव्यों को टालते रहना अपना काम बिगड़वाने के लिए मानों विध्नों को न्यौता देना है। विध्न को अन्तराय कहा जाता है। विध्नों की आशंका से पहले ही काम कर लेने से निर्विध्न कार्य का फल पाया जा सकता है। उसे कभी असफलता का मुँह नहीं देखना पड़ता यदि वह कार्य काल से नही चूकता। जो व्यक्ति कामों में विध्न न आने देना चाहे वह कर्तव्य काल न बीतने दे। कर्तव्य का काल न बीतने देने में ही कर्तव्य की सफलता का रहस्य छिपा हुआ है। विचारशील व्यक्ति अपने प्रत्येक क्षण पर सदुपयोग की मोहर–छाप लगा देते हैं। जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गंवाते। इस प्रकार प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करने वाले का जीवन महान् बन जाता है। संसार के अच्छे कामों के उदाहरण समय रुपी धन के सदुपयोग से होते हैं और हुए हैं। मनुष्य के जीवन को यदि एक विशाल भवन मानें तो जीवन के प्रत्येक क्षण एक एक ईटें हैं, जिन्हें चिनते रहने से ही भवन का निर्माण होता है। अतः निर्विध्न वही मनुष्य होता है जो काल विक्षेप नहीं करता।

मूर्ख

मूर्खों का स्वभाव- मूर्खेषु साहसं नियतम्-229

नृशंस आक्रमण, अभद्र व्यवहार, अबुद्धिपूर्ण दु:स्साहसपूर्ण कार्य करना मूर्खों का स्वभाव होता है।

मूर्खों से विवाद नहीं करना चाहिए- मूर्खेषु विवादो न कर्तव्य:-230

हिताहित, उचितानुचित विचार शून्य विवेकहीन मूर्खों के साथ बहस-वादविवाद न करके, उनके दुस्साहस को उचित व्यवहार से तुरन्त दबाना चाहिए। सद्वचन, शिष्ट-मिष्ट भाषण, हित भाषण से उनका दु:साहस बढ़ जाता है। इनसे विवाद करके इन्हें किसी सत्य सिद्धान्त पर आरुढ़ नहीं किया जा सकता। वे सदुपदेष्टा की अवहेलना किया करते हैं। बातों से समझाने से इनका दुस्साहस नहीं बढ़ने देना चाहिए।

दुष्टों को तो केवल बल से समझाना ही संभव है।

मूर्खेषु मूर्खवत् कथयेत्- 231

मूर्खों से सज्जनता का व्यवहार न करके उनके साथ उन्हें समझ आने वाली दण्ड की भाषा में व्यवहार करना चाहिए। जैसे भैंस केवल डण्डे की भाषा ही समझती है इसी प्रकार मूर्ख लोग सज्जनता की किसी बात को नहीं समझते। उनकी ग्रहणशक्ति के विपरीत उदार भाषा में व्यवहार नहीं करना चाहिए।

मूर्ख शब्द से अभिप्राय अविकसित हृदय अथवा पतित हृदय दोनों के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है। वे हितकारी और सूक्ष्म बात नहीं समझते-मानते। पतित हृदय लोगों से हितकारी बात कहना व्यर्थ होता है। उनसे सूक्ष्म-गहन विषयों की चर्चा न करके उनसे निजी दैनिक जीवन-खान-पान की चर्चा करनी चाहिए।

जैसे लोहे को लोहे से काटा जाता है इसी प्रकार पतित हृदय वाले हठीले-नीच-मूर्ख को हितोपदेश देकर उसे अनुकूल बनाने की भ्रान्ति न करके उसका जी तोड़ सकने वाले कठोर शब्द, शारीरिक दण्डों से पराभूत करना चाहिए।

आयसैरायसं छेद्यम्–232

प्रतिपक्षी के दम्भ को चूर्ण करने वाली अधिक चालाकी तथा कठोरता से उससे व्यवहार करना चाहिए 'शठे शाठ्यं समाचरेत्'। उसके साथ नम्रता एवं दयालुता दोनों ही हानिकारक हैं। मूर्खों के साथ नम्र हो जाना दुष्परिणामी है। जैसे लोहे का छेदन श्रमसाध्य है वैसे ही शत्रु को लघु उपायों से काबू करना कठिन है।

मूर्खों से मेल–जोल रखना भी सम्भव नहीं है।

नास्त्यधीमतः सखा–233

बन्धुत्व का व्यवहार तो सत्यनिष्ठ व्यक्ति से होता है। मूर्खों के स्वार्थमूलक व्यवहार से सभी घबराते हैं। निःस्वार्थता ही समाज में व्यवहार्य होती है। स्वार्थी बन कर समाज का शत्रु बन जाना तो बुद्धिहीनता व धूर्तता है।

चाणक्य के मतानुसार मूर्ख तो दो पाँव वाला पशु है जिसका परिहार ही करना चाहिए– 'मूर्खस्तु परिहर्तव्यः प्रत्यक्षो द्विपादः पशुः'। भर्तृहरि के मतानुसार भी मूर्खता की कोई औषधि नहीं

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो,
नागेन्द्रो निशितांकुशेन समदा दण्डेन गोगर्दभौ।
व्याधिः भेषजसंग्रहेण च विविधैः मंत्रप्रयोगैर्विषम्,
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्॥

अग्नि का निवारण जल से होता है, धूप का छतरी से, मदमत्त हाथी का पैने अंकुश से, बैल और गधे का डण्डे से, रोगों का औषधियों से और विष का विविध मन्त्र प्रयोग से। परन्तु मूर्खता की कोई औषधि नहीं है।

अनार्य–धूर्त–दुष्ट का व्यवहार कपटी ही होता है–

हृदगताच्छाद्यान्यद्वदत्यनार्य–526

दुष्ट लोग मन की दुष्टता तो छिपाए रखते हैं और कुछ अन्य ही बोलते हैं।

दुष्ट लोग मन से प्रवञ्चना, परस्वापहरण, परपीड़न आदि के उपाय सोचते हैं और वाणी से परोपकार देश सेवा, साधुता आदि का बखान करते हैं–

न धर्म शास्त्रं पठतीति कारणं, न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्यां मधुरं गवां पयः॥

धर्मशास्त्रों के वचन सुनाना, गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्त बताना और वेदाध्ययन करना दुरात्मा को विश्वास योग्य नहीं बना पाता। इसमें तो स्वभाव ही प्रबल रहता है, जैसे गायों का दूध प्राकृतिक रूप मे मधुर होता है।

आर्य वही है जिसका आचरण समाज के लिए वेद समान प्रमाण भूत है। आर्य का आचरण ही देश सेवा का आदर्श होता है। आर्य का खान-पान, रहन-सहन, वाग् व्यवहार सब कुछ देश सेवा का आदर्श रुप होता है। यशोलिप्सा से कभी आत्मप्रचार नहीं करता। धूर्त लोग वास्तविकता को छिपा कर दूसरे को ठगने, दुःखी करने वाले काम-बात करते हैं-

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥ (विष्णुशर्मा)

दुर्जन के मन में कुछ और, वाणी में कुछ और तथा कर्म में कुछ और ही होता है। महात्माओं के तो मन-वाणी-कर्म तीनों में ही समान बात-व्यवहार होता है। दुष्ट की वाणी भले ही मधुर हो लेकिन कर्म-व्यवहार वज्रसम कठोर- कर्कश होता है। कपट पूर्ण दुर्बुद्धि से पूर्ण आचरण होता है।

बुद्धिहीनः पिशाचादनन्यः-527

सुबुद्धिहीन पिशाच का दूसरा रुप होता है।

बुद्धिहीन के वाग्-व्यवहार में लघुता, क्षूद्रता पैशाचिकता का आचरण होता है। मनुष्यों के हिताहित को त्याग कर हेय कर्म करने से नहीं रुकता-झिझकता बुद्धिहीन मनुष्य। इसी स्वेच्छा पूर्ण निर्मयादित आचरण के कारण लोगों की घृणा व उपेक्षा का पात्र बन जाता है।

राजा को चाहिए कि वह सदाचारी-मर्यादित लोगों को समय-समय पर उचित पारितोषक देकर पुरस्कृत करें। बुद्धिहीन सदैव समाज का अहित ही करने वाला होता है अपने वाग्-व्यवहार से। बुद्धिहीन और पिशाच में कोई भेद नही होता, भोजन-भोग-व्यवहार में भले ही समानता दिखे। हिताहित बुद्धि से हीन मनुष्य सदा ही समाज का अहित करने वाला कुकर्मी और अशान्ति फैलाने वाला होता है।

समाज में निष्कपटों की न्यूनता

ऋजुस्वभावो जनेषु दुर्लभः-158

सत्पुरुष के साथ सभ्य-शिष्ट व्यवहार करने वाला, कर्तव्यपालन मात्र पर दृष्टि रखने वाला ऋजु-सीधा व्यक्ति मनुष्यों में दुर्लभ होता है।

सत्पुरुषों के साथ सच्चाई से सद्व्यवहार करने वाला शुद्ध-पवित्रबुद्धि निश्चय ही सत्य का पालन तथा असत्य का विरोध करने वाला होता है। यह असत्याचरण द्वारा दिखावटी ऋजुता नहीं होती। वह असत्यारुढ़ परिचितों को भी क्षण भर में अपरिचितों की भांति मानता हुआ त्याग देता है। जहाँ वह ऋजु व्यक्ति सत्य को नहीं पाता है वहाँ वह क्रूर, कठोर असहिष्णु बन जाता है। यूँ तो ऋजुता के कृत्रिम प्रदर्शन बहुधा होते हैं परन्तु सत्यारुढ़ों के द्वारा बनावटी शिष्टाचार वाली ऋजुता से सम्बन्ध नहीं रखा जाता। सदसद्विचार न रखने वाले मनुष्य

की दिखावटी ऋजुता वास्तव में ऋजुता न होकर निर्बुद्धिता, कुटिलता और परवंचन की दुष्टता का कौशलमात्र होता है।

कुछ लोग दुष्टों के साथ मे सरल बर्ताव करने का उपदेश देते हैं और उनकी इस धृष्टता धूर्तता को ऋजुता के अर्थ में लाने का दु:साहस करते हैं। परन्तु दुर्जनों के साथ निष्कपट व्यवहार करने का अव्यावहारिक संसार में स्थान भले ही हो, लेकिन व्यावहारिक संसार में तो उसका कोई भी स्थान नहीं है वह मनुष्य दुर्जन की दुर्जनता का ही समर्थक कहलाता है। वे दुर्जनों के प्रतिघात से भयभीत होने वाले कायर लोग होते हैं। सबके लिए भले–सन्त महात्मा बनने वाली भावना इन लोगों का विवेक हर लेती है। दोनों पक्षों में समभाव अव्यावहारिक है। अच्छे–बुरे की समता ऋजुता के अर्थ में आ ही नहीं सकती।

ऋजुस्वभाव: परिजनो दुर्लभ: 158 (क)

ऋजु स्वभाव के सेवक, प्रजा तथा पारिवारिक लोग दुर्लभ होते हैं। ऐसे लोग किसी भी राष्ट्रसंस्था या परिवार के प्राण तथा सौभाग्य होते हैं। वे मानवसमाज के सामने अपने व्यावहारिक जीवन द्वारा एक उत्तम आदर्श उपस्थित करते हैं। जब किसी राजा के ऐसे राजकर्मचारी हों या परिवार में पारिवारिक सदस्य हो तो उन्नति एवं यशवृद्धि अवश्यम्भावी है।

मातापिता गुरुर्भाया प्रजा दीना: समाश्रिता:।
अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्नि: पोष्यवर्ग: उदाहृत:॥

माता–पिता, गुरु पत्नी, प्रजा, दीन, आश्रित, अभ्यागत, अतिथि तथा अग्नि ये सब परिजन कहलाते हैं।

वस्तुत: यह समस्त विश्व ही एक विराट परिवार है। प्रत्येक मानव इस विराट परिवार का सदस्य है। उसे अपने इस विश्व परिवार में अपना अहंकार खोकर ऋजुता से व्यवहार करना चाहिए।

(साधुपुरुषों की अर्थनीति)

अवमानेनागतमैश्वर्यमवमन्यते साधु' – 160

साधु–सत्यनिष्ठ–ऋजु व्यक्ति, उत्कोच आदि गर्हित ढ़ंगो से आने वाले ऐश्वर्य को तृण के समान अस्वीकार कर देता है।

सत्यनिष्ठ लोग अपयश फैलाने वाले–अपमान से मिलने–वाले ऐश्वर्य को तृण के समान अस्वीकार कर देते हैं। जिस ऐश्वर्य से अपने चरित्र पर दाग लगता देखते हैं तथा अपने सम्मान की हानि समझते हैं उसे किसी भी रुप में स्वीकार नहीं करते क्योंकि 'मानो हि महतां धनम्' क्योंकि मान–प्रतिष्ठा ही महापुरुषों का धन है। वे अपने मानधन की रक्षा प्राणपण से भी करते हैं। वे स्वाभिमानपूर्वक अपने न्यायागत धन से सन्तुष्ट रहकर अपने मानधन की रक्षा करके

निर्धन जीवन बिताने को सौभाग्य और इसी में स्वाभिमान अनुभव करते हैं। किसी ने कहा भी है-

अमीं पियावत मान बिन सो हमही न सुहाय।
मान सहित मरिवो भलो जो विष देय पिलाय॥

निकृतिप्रिया नीचाः -202

नीच व्यक्ति सत्पुरुषों के साथ भी कपटाचरण करने वाला होता है। नीच व्यक्ति विश्वासपात्र के साथ भी विश्वासघात करता है। दुष्कार्यप्रियता, परापमान, धूर्तता, शठता, छल-कपट, प्रतारणा, पराधिकार का अपहरण इत्यादि नीच व्यक्तियों को प्रिय हैं। सत्पुरुषों का अपमान, उनके अभीष्ट वस्तु-व्यक्ति-स्थान को नष्ट करना उनकी आदत-स्वभाव-प्रवृत्ति है। उन्हें गर्हित आचरण, दूसरे का उपहास करना आदि अभद्र आचरण प्रिय होते हैं। जैसे कुत्तों को उच्छिष्ट या कुत्सित भोजन प्रिय होता है, चोर को अन्धेरा प्रिय होता है उसी प्रकार शठ को समाज के साथ छल-कपट नीचता प्रिय होती है।

नीचस्य मतिर्न दातव्या- 203

नीच मनुष्य को सदुपदेश देकर उसे सद्बुद्धि -विवेक बनाने का प्रयत्न मत करो।

कुपथगामी नीच बुद्धि वाले को सदुपदेश का दुष्परिणाम होता है। वह कभी भी नेक सलाह सीख मानने को तैयार नहीं होता है। नीच को उपदेश देना केवल व्यर्थ ही नहीं होता अपितु उसे अपना शत्रु बना लेने वाला होता है।

तेषु विश्वासो न कर्तव्यः - 204

नीच-धूर्तों का विश्वास नहीं करना चाहिए।

नीच तो किसी का भी विश्वासपात्र बनने योग्य नहीं है। ऐसों को अपनी कोई मार्मिक-रहस्यपूर्ण बात बताना, जिससे कि वह उसे हानि पहुँचा सके, जीवन को निष्फल बनाना है।

सुपूजितोऽपि दुर्जनः पीडयत्येव- 205

उदारता का व्यवहार पाकर भी दुर्जन मौका पाते ही अनिष्ट करने से चूकता नहीं। उपकारी को भी दुःख किसी न किसी रुप में पहुँचाता ही रहता है। सांप दूध पीकर भी विषदंश के विना नहीं रहता। बिच्छु के समान अपनी प्राण रक्षा करने वाले को भी काटे बिना चैन नही पड़ता। वह स्वभाव से दूसरों का अपकार करने को विवश है। अतः महात्मापन या सन्त-साधु स्वभाव से अपने जीवन को खतरे में न ड़ाले। इन दुष्टों से विश्वास का सम्बन्ध स्थापित करने की भूल न करें।

चन्दनादीनपि दावाग्निर्दहत्येव - 206

जैसे दावाग्नि अपने दाहकत्व स्वभाव से चन्दन की शीतलता तथा सुगन्ध का गुण-ग्रहण न करके उसे जला डालती है उसी प्रकार उपकृत किए जाने पर भी शठ उपकार करने वाले का आभारी न होकर उसका अपकार ही करता है।

शिरसि प्रस्थाप्यमानोऽपि बह्निर्दहत्येव - 206 क

सिरपर धारण किए जाने पर भी अग्नि अपने दाहक स्वभाव के कारण अपने सम्मान दाता को भी जलाती ही है। इसी प्रकार दुर्जन सत्कृत किए जाने पर भी उपकार करने वाले को पीड़ा पहुँचाता ही है। आग बुझ तो सकती है परन्तु शीतल नहीं हो सकती है, इसी प्रकार दुष्ट विनष्ट तो हो सकता परन्तु अपनी नीचता को नहीं त्याग सकता है।

नीच लोग स्वभाव से ही नीच होते हैं। लाख चेष्टाएँ करने पर भी नहीं सुधरते, तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में शठ स्वभाव इस प्रकार बताया है-

बहुरि बंदि खलगन सति भाए, जे बिनु काज दाहिने बाएँ।
परहित हानि लाभ जिन केरे, उजरे हरष विषाद घनेरे॥
पर अकाज लगि तनु परिहरहीं, जिमि हिमउपल कृषी दलिगरहीं।
वचन वज्र जेहि सदा पिआरा, सहसनयन परदोष निहारा॥

मै बार-बार सच्चे हृदय से खल जनों की वन्दना करता हूँ जो बिना कारण ही दाएँ-बाएँ हो जाते हैं। दूसरों के हितों की हानि को अपना लाभ समझते हैं। कोई उजड़ जाए तो खुश होते हैं और बस जाए तो दुःखी होते हैं। दूसरों के काम बिगाडने को जान पर भी खेल जाते हैं, जैसे ओले गलकर खेती को नष्ट कर देते हैं। जिनको कठोर वचनरुपी वज्र सदा प्यारा लगता है और जो हजार आँखों से दूसरों के दोषों को देखते हैं।

ऐसे दुष्टों के लिए चाणक्य नीति में कहा गया है-

दुर्जनस्य च सर्पस्य वरं सर्पो न दुर्जनः।
सर्पो दंशति कालेन दुर्जनस्तु पदे पदे॥

दुर्जन और साँप इन दोनों में साँप दुर्जन से बेहतर है। साँप तो कभी-कभी डसता है पर दुर्जन कदम-कदम पर डसता है।

नीच लोगों को किसी प्रकार का उपदेश देना भी व्यर्थ ही होता है वे उपदेश का भी उल्टा ही अर्थ लगाते हैं जैसा कि चाणक्य नीति में कहा गया है-

न दुर्जनः साधुदशामुपैति बहुप्रकारैरपि शिक्ष्यमाणः।
आमूलसिक्तः पयसा घृतेन न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति॥

दुर्जन को चाहे जितना उपदेश दिया जाए, वह साधु स्वभाव नहीं बन सकता। नीम के पेड़ को चाहे दूध और घी से सींचा जाए तो भी उसमें मिठास नहीं आ सकता। अतः नीच जनों का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। उनका चाहे जितना उनका उपकार किया जाए वे अपना दुष्ट स्वभाव नहीं छोड़ते जिस प्रकार जंगल की आग चन्दन जै से शीतल और सुगन्धित वृक्ष को जला देती है उसी प्रकार नीच जन सबको हानि पहुँचाते हैं कष्ट देते हैं।

आशापाशः बन्धनः

आशया बाध्यते लोकः-503

अविचारशील- सांसारिक लोग कर्तव्य पालन न करके आशाओं के बन्धन में बन्धकर काम करते हैं।

आकाँक्षाएँ-इच्छाएँ ही आशाएँ हैं। मुझे यह मिल जाए-वह मिल जाए ऐसा हो जाए-वैसा हो जाए इत्यादि, आशा में रहना, भावी की प्रतीक्षा करते रहना और वर्तमान शुभ की अवहेलना करना हानिकारक है। सामाजिक उत्थान केवल मनोकामनाओं से सम्भव नहीं है अपितु अदम्य उत्साह की आवश्यकता होती है। 'दैव दैव आलसी पुकारा'। ''दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्तया यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्रदोषः''।।

उन्नति, कर्तव्यपरायण लोगो के अदम्य उत्साह पर ही निर्भर करती है।

आशापाशशतैर्बद्धाः काम क्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयात्।।

आशा की सैंकड़ों रस्सियों से बन्धे हुए, काम क्रोध में ही अपना जीवन मिटा डालने वाले लोग काम भोग के लिए अन्याय से धनोपार्जन की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति होने पर भला अपना और सामाजिक हित सम्भव है? सुखी तो वह व्यक्ति-समाज-देश होगा जहाँ कर्तव्य पालन ही जीवन का एक मात्र उद्देश्य हो, फलों की कामना करना नहीं-

नात्वहं कामये राज्यं स्वर्गं न वा अपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणीनामार्तिनाशनम्।।

आशा नाम की नदी तो मनुष्य को डुबाने वाली है-

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला।
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुंगचिंतातटी।
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।।

भर्तृहरि ने आशा नाम की नदी का विकट रुप दर्शाया है कि यह मनोरथों के जल से परिपूर्ण है, तृष्णा उसकी तरंगे हैं, राग उसमें रहने वाला मगरमच्छ है, वितर्क नाम के पक्षी

इसके किनारों पर बैठे रहते हैं। यह आशा नामक नदी धैर्य रुपी द्रुम को जड़ से उखाडने वाली है। मोहात्मक भंवरों से दुस्तीर्ण, लम्बी चौड़ी चिन्ताएँ इस नदी की द्वितट भूमि है। इस नदी को पार करना विचारशील मन वाले कर्मयोगियों का काम है। यदि मनुष्य कल्याण का इच्छुक है तो केवल मात्र कर्तव्य पालन ही करना होगा।

आधुनिक जगत् तो केवल इसी आशा से सरक रहा है कि यहाँ से बढ़कर आगे हम सुख पूर्वक जियेंगे। विद्वान् होकर रोजी रोटी कमाएँगे।

न चाशापरैः श्रीः सह तिष्ठति-504

ग्राशा परायण व्यक्ति सदा श्रीहीन रहते हैं।

आशा अर्थात् विषय लालसाओं के वशी भूत हो उनके पीछे-पीछे भागने वाला मृगतृष्णा मृगमरीचिका वाले मृग के समान है जो भागते-2 अन्त में विनाश को प्राप्त करता है। सम्पत्तियाँ तो, भयंकर से भयंकर विपत्तियों में भी साहस दिखाने वाले उद्यम-उद्योग का त्याग न करने वालों को ही, प्राप्त होती है।

अतृप्त कामना ही आशा है। कामनाओं से पीड़ित व्यक्ति इच्छाओं का वशीवर्ती होकर उनके चंगुल-जाल में उलझा रह जाता है, कितना भी वैभव हो तो भी अतृप्त हो सभी प्रकार के तिरस्कृत उपाय भी अपनाता है लेकिन कर्तव्यशील होकर उसे सन्तोष रुपी धन का धनी बनना चाहिए।

दुराशां परिहृत्यैव सदाशां वर्धयेत् सदा मनुष्य दुराशा को त्यागकर ईश्वरेच्छा-सदाशा-सत्य निर्भरता पर स्थिर रहे। **'अनिर्वेदः श्रियो मूलम्'** उत्साह न छोड़ना, कभी खिन्न न होना, व्याकुल-व्यग्र न होना ही श्री प्राप्ति का मूल है। कहा भी गया है कि- 'दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण पौरुषं न कृतम्' जब तक मनुष्य पुरुषार्थ नही करता, तब तक श्रेष्ठ पद, महत्वपूर्ण पद प्राप्त नहीं करता।

आशापरे न धैर्यम्-505

आशा परायण व्यक्ति के पास स्थिर-मनबुद्धिरुपी धैर्य नहीं होता।

व्यावहारिक जगत् में आशा का स्थान होने पर उसकी कुछ सीमा-मर्यादाएँ भी तो होती हैं। बिना क्लेश का अनुभव किए सुसम्पादित आशा तो मनुष्य की मनुष्यता का भयंकर शत्रु है। निर्मर्यादित आशा वाला मार्ग कुमार्ग से उपार्जन में प्रवृत्त होकर संसार में हलचल मचा देता है। वह धीरज नही रख सकता। कर्तव्य निष्ठ, दुराशा से अनभिभूत लोग ही धीरज रख सकते है। धीरज के बिना सुख-शान्ति दोनों असम्भव हैं। आशा पूरी न हो तो जीवन को निस्सार मानने पर धीरज अर्थात् सत्यार्थ जीवन धारण करने वाला विवेक नही होता। आशा पर निर्भर रहने वाला मानव, रस्सी से बंधे पशु के समान आशा रुपी रश्मियों से बंधा रहकर कर्तव्य से

बचता हुआ अकर्तव्य किया करता है। शेखचिल्ली एवं मुंगेरीलाल के हसीन सपने कभी पूरे नहीं होते।

कर्तव्य का स्वभाव है कि वह कुछ न कुछ हानि किए बिना पूरा नहीं होता। आशा का दास अकर्तव्य से भौतिक लाभों की संभावना देख कर उसी ओर झुक जाता है।

कर्तव्यपरायण लोग दुराशा से कभी नहीं बँधते। उन्हें अपने कर्तव्य पालन का फल मिले या न मिले वो तो केवल कर्तव्य कर्म करते चले जाते हैं। उनकी दृष्टि में अपना कर्तव्य कर्म कर लेना ही कृतार्थता होती है। मनुष्य जब तक इस दृष्टि से कर्म करना नहीं सीखेगा और कर्तव्य मार्ग के काँटे नहीं धकेलेगा तब तक ओजस्वी-तेजस्वी जीवन नहीं बिता सकेगा।

आशायाः खलु ये दासाः दासास्ते सर्वलोकस्य।
येषामाशा दासी तेषां दासायते लोकः॥

आशा के दास सारे संसार के ही दास होते हैं जो लोग आशा को अपनी दासी बनाकर रखना जानते हैं, यह संसार उनका दास हो जाता है। आशा के दास का सम्पूर्ण जीवन निराशाओं से भर जाता है।

दैन्यान्मरणमुत्तमम्-506

दीन बनने से तो मर जाना उत्तम है।

अपने को दीन-असमर्थ समझकर अनुत्साहित होना तो मृत्यु से भी निकृष्ट है। दैन्य न आने देना ही जीवन की सार्थकता है। जीवन के उद्देश्य को उपेक्षित कर निरुत्साहित होना तो जीवन्मृत्यु है। जीवन को सार्थक करने के लिए उत्साहित करना ही इस सूत्र का अभिप्राय है। मृत्यु को अच्छा मानने की मनोदशा किसी भी अवस्था में प्रशंसनीय नहीं है। जीवन का अन्त कर डालने की भावना, मानव देह धारण की भावना के विरुद्ध है। अपने को दीन-हीन-तुच्छ समझ बैठना मृत्यु से भी निकृष्ट है। मानव जीवन का उद्देश्य निकृष्ट बनना नहीं अपितु उत्कृष्ट बनना ही है। उत्कृष्टता ही मानव जीवन का लक्ष्य है। मृत्यु मनुष्य को केवल एक बार ही मारती है जबकि दीनता अनुदिन उसको कचोटती-दबोचती-सताती है।

महाभारत के युद्ध में अर्जुन ने श्रीकृष्ण के समक्ष प्रतिज्ञा की थी- 'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे, न दैन्यं न पलायनम्' अर्जुन आपसे प्रतिज्ञा करता है कि वह न तो वह दुःख से कातर होगा और न कायर की तरह युद्ध से पीठ दिखाकर भागेगा।

हिन्दी कवि रामरेश त्रिपाठी का भी कथन है-

जब तक शेष एक सांस हो तन में, हो अवशिष्ट एक भी धड़कन,
दीन वचन मुख से न उचारो, मानो नहीं मृत्यु का भय।
मृत्यु एक सरिता है जिसमें श्रम से कातर जीव नहाकर, पाता है नवजीवन सम्बल।।

आशा लज्जां व्यपोहति-507

आशा-विषय लोलुपता-दुराशा मनुष्य की शिष्टता को नष्ट करती है और लोभाग्नि को प्रज्वलित करती है।

आशा-आकांक्षा मनुष्य को तिरस्कृत कार्यों में नियोजित करती है। आशाधीन व्यक्ति लज्ज़ा को त्याग कर, शिष्टता को तिलांजलि देकर असाधु व्यवहार करने लग जाता है। अपना लोभ पूरा करने के लिए जिस किसी के आगे अपना हाथ पसार देता है और अपमानित होता है।

स्वभावो दुरतिक्रमः - 327

स्वभाव को छोड़ना बहुत मुश्किल होता है।

मनुष्य की सहज वृत्ति का परिवर्तित एवं परिवर्धित-परिपक्व रूप स्वभाव है। मनुष्य सारे कार्य अपने स्वभाव के अनुसार करता है। मनुष्य की आन्तरिक इच्छा-प्रेरणा ही स्वभाव है। Intrinsic-innate tendencies ही अनुकूल अवसर पाकर स्वभाव के रूप में विकसित होती हैं।

स्वभाव दो प्रकार के होते हैं - एक तो प्राकृतिक - जन्मजात और दूसरे अपनाई हुई आदतें जो पक कर स्वभाव बन जाती है। स्वाभाविक जन्मजात वृत्ति को Instinct कहते हैं। मनुष्येतर जीवों के कार्य सहजवृत्ति के अनुसार होते हैं। मनुष्यों मे भी सहजवृत्तियाँ होती हैं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि सहज वृत्तियाँ हैं। खतरा सामने आने पर आदमी भागने लगता है। सहसा कोई पटाका-धड़ाका होता है तो वह चौंक पड़ता है। ये सहज वृत्तियाँ हैं। परन्तु मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार तरह-तरह की आदतें बना लेता है जो धीरे-धीरे स्वभाव का रुप लेती हैं। कुछ आदतें तो जड़ पकड लेने पर लत का रुप ले लेती है। शराब पीना एक ऐसी ही लत है। कुछ लोगों को झूठ बोलने और चोरी करने की आदतें पड़ जाती है। कुछ अच्छे लोगों में अच्छी आदतें भी होती हैं। सज्जनों का स्वभाव परोपकार करना होता है। सदाचारी-सत्यपरायण लोग सद्व्यवहारी-सत्यवादी ही होते हैं।

सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से मनुष्य जाति ने अनेक आदिम वृत्तियों पर काबु कर लिया है परन्तु अलग-अलग लोगों के जो स्वभाव हैं उन्हें छोड़ना-छुड़वाना बहुत मुश्किल होता है जैसे लोगों की बुरी आदतें तथा सज्जनों की परोपकार वृत्ति।

नित्य किए हुए कर्म स्वभाव बन जाता है। स्वभावानुसार किया हुआ कार्य किसी एक दिन में सीमित न रहकर हमेशा के लिए स्वभाव का रुप ले लेता है।

मनुष्य का मन स्वभाव से सुखानुरागी है। वह दुःखसेवी होना कभी नही चाहता। अज्ञानी अज्ञान में ही सुख मानता है तथा ज्ञानी ज्ञान में सुख मानता है। अज्ञानी ज्ञानी के तथा ज्ञानी

अज्ञानी के आचरणों को नहीं अपना सकता क्योंकि उसे उसी में सुख प्राप्त होता है। प्रायः लोग सोचते हैं कि ज्ञानी अज्ञानी से उपयोगी कार्य करवा सकता है परन्तु यह उनका भ्रम है। ज्ञानी अज्ञानियों से कोई उपयोगी कार्य नही करवा सकते। केवल ज्ञानी का ही आचरण राष्ट्र में कल्याणकारी कर्म में अपना जीवन समर्पित कर सकता है।

राष्ट्र संस्था में ज्ञानियों को ही प्रवेशाधिकार मिलना चाहिए क्योंकि राज्य संस्था से मिलने वाले सुख के लोभ में वह अपने आचरण से अमानुषोचित सुखेच्छा को त्याग नहीं सकता। वह हाथ में राज्याधिकार पाकर राजकीय कार्यों को अपनी आसुरीवृत्ति से प्रभावित किए बिना नहीं रहता। इस दृष्टि से ज्ञानी समाज का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र सेवा के लिए ज्ञान एवं हृदय शुद्धि का परिचय पाने पर ही उन्हें राष्ट्र सेवा कार्यों में नियुक्त करे। यह बात भी ज्ञानी के स्वभाव के विरुद्ध है कि वह अज्ञानियों के साथ समझौता कर मिली जुली राष्ट्र सेवा में उनका सहयोग करे या उनसे सहयोग प्राप्त करे। कदम-कदम पर विरोध उपस्थित करते रहने वाले अज्ञानी के साथ सम्मिलित होना ज्ञानीस्वभाव के विरुद्ध है। विचारों की एकता से ही स्वभावमिलन सम्भव है। ज्ञानी-अज्ञानी के स्वभाव कभी भी एक समान नहीं हो सकते। विचार ही मनुष्य के स्वभाव का प्रतिनिधित्व करते हैं। विचारों का पूर्ण परिचय पाए बिना किसी के स्वभाव का परिचय होना कठिन है।

नास्त्यहंकारसमः शत्रुः-288

अहंकार से बड़ा कोई शत्रु नहीं। भौतिक पदार्थों का सामर्थ्य होने का दम्भ ही अहंकार कहा जाता है। अहंकार के कारण अनुचित आचरण-व्यवहार होने से अहंकार को निन्दित करके शत्रु कहा गया है।

भौतिक सामर्थ्य की दासता धन-बल, जनबल, देहबल रुपी आसुरी प्रवृत्ति है। अपने से निर्बल पर हावी हो जाना, प्रबल होकर छा जाना अहंकारी का स्वभाव होता है। स्वार्थवश भले ही अपने से अधिक बल वाले के अधीन हो जाए अन्यथा तो अहंकारी का स्वभाव दूसरों पर छा जाना और इतरा कर आदेशात्मक भाषा में बोलना है, और स्वयं ही अपनी प्रशंसा करना है लेकिन आत्म प्रशंसा से कभी बड़प्पन प्राप्त नहीं करता जैसा कि कहा भी जाता है-

इन्द्रोऽपि लघुतां याति आत्मप्रख्यापितैः गुणैः

इन्द्र भी आत्म प्रशंसा से लघुता को प्राप्त करता है बडप्पन को नहीं।

'नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं, प्रभुता पाई जाही मद नाहीं'- उच्च पद प्राप्त करके किसे मद-गर्व अभिमान नहीं हो जाता। उच्च सत्ता-अधिकार रुप-यौवन-धन सम्पदा सभी एक एक अकेले ही मद-मात्सर्य उत्पादक हैं और जहाँ चारों ही एक साथ एकत्रित रुप में हों तो वहाँ तो कहना ही क्या?

रुप–रस–गन्ध–स्पर्श आदि हमारे भोग्य है और हम इन्हें भोगने के लिए इस संसार में आए हैं यह हमारी दोषपूर्ण मानसिकता है। यूँ तो इन्हें भोगने के अतिरिक्त अन्य कोई काम ही नहीं है। इन्द्रियों में भोग प्रवृत्ति स्वाभाविक है लेकिन इस भोग प्रवृत्ति को अपना स्वभाव मान लेना अहंकार रुप है।

अज्ञानी मनुष्य इन्द्रियों की भोगों में तृप्ति को न पाकर असन्तुष्ट होने से अन्य अनेक दोषों–काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अन्य अनेक दोषों से ग्रस्त हो जाता है जैसा कि गीता में कहा भी गया है–

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहान्मतिविभ्रमः।
मतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

अज्ञानी मनुष्य के पास आत्मतृप्ति नामक कोई अवस्था–स्थिति नहीं होती। वह सम्पूर्ण जगत् को अपने भोग्य योग्य समझता हुआ अधिकाधिक भोगप्रवृति की ओर बढ़ता जाता है आत्म सन्तुष्टि पाने के लिए 'हविषेव कृष्णवर्त्मना वर्धत्येव'– अग्नि में अधिकाधिक आहूति से वह तो बढ़ती ही है कभी शान्त नहीं होती। जगत् के भोग पदार्थों को अधिकाधिक देख कर कामाग्नि सुलगती ही है। यही कामना दुखों का कारण है। कामाग्नि, रुप रसादि विषयों से शान्त नहीं होती अपितु बढ़ती ही है। कामाग्नि को बुझाना ही मनुष्य जीवन की अखण्ड शान्ति का आदर्श है। इन्द्रियों को स्वाभाविक भोक्ता न मान कर देही–आत्मा को भोक्ता जान लेने पर ज्ञान है और उसे उन विषय भोगों से बचा कर रखना ही वास्तविक सुख है और जीवन्मुक्ति है।

ज्ञानी अपने समाज को भी इस भोग लालसा से बचाकर अपना कर्तव्यपालन कर सुख शान्ति लाता है। अहंकार जो एक दूषित मनोवृत्ति है वह समाज में भोग प्रवृत्ति के उपजने और अधिकाधिक बढ़ने से ही पैदा होती और बढ़ती है। अधिकाधिक पाने और बढ़ाने की लालसा बढ़ती ही जाती है जो कि अनुचित है।

जब मनुष्य अपने इस रुप से परिचित हो जाता है तब वह भोगों की कीचड़ में से निकल जाता है। अज्ञान रुपी भोगबन्धन मनुष्य का परमशत्रु है। भोगबन्धन ही राज्यधिकारियों को कर्तव्यभ्रष्ट करने वाला उनका परम शत्रु है। स्वयं ज्ञानी बनकर रहना ही अपने समाज को भी ज्ञानी बनाने वाला मनुष्योचित कर्तव्य पालन है। समाज का शत्रु बनना सामाजिक द्रोह ही नहीं अपितु आत्मद्रोह भी है। अहंकार दूसरे के अधिकारों को उदारता पूर्वक स्वीकार करने से रोकता है। अहंकार मनुष्य को मनुष्य का ही शत्रु बना देता है। मनुष्यों में भेदभाव एवं मन–मुटाव आता

है वह अहंकार के कारण ही आता है। सबको अपने समान समझने से भेदभाव मिट जाता है और पारस्परिक शत्रुता का अन्त हो जाता है।

मनुष्य को अहंकार न रहने पर यह समस्त संसार अपना सहायक मित्र दिखने लगता है। अहंकार से वशीभूत हुआ मनुष्य विवेकहीन होकर अपने अनुचित आचरणों से अपने पराये का भेद करके संसार में दु:खों की वृद्धि कर देते हैं। संसार में अशान्ति पैदा होना अहंकार का ही दुष्परिणाम है। कर्ण, दुर्योधन, कंस, रावण आदि के जीवन अहंकार के कारण होने वाली अशान्ति उत्पादन के उदाहरण हैं।

दिनकर पगारे, रीडर इन कॉमर्स
हंसराज कॉलिज
दिल्ली विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

बहन ऊषा अग्रवाल की जितनी भी कृतियाँ मिली प्रत्येक को एक ही बैठक में पढ़ डालीं, बिना अंतराल लिए। क्या कँरु, उनका कथ्य, शैली, भाषा व शब्दों का चयन इतना रोचक है कि पुस्तक को छोड़ने का मन नहीं करता। ''मन'' में संकल्प-शक्ति, मन के स्वभाव, प्राण व कुण्डलिनि शक्ति व मन को वश में करने की विधि का वर्णन, विशेषतया प्रेरणास्पद है। बहुत अच्छा लगा मन के बेलगाम घोड़े की तरह व्यवहार करने के स्वभाव को जानकर।

स्वयं शिक्षक होने के कारण ''आचार्य देवो भव'' ने बहुत करीब से छुआ। गुरु द्रोणाचार्य से लेकर आज तक गुरुओं व शिष्यों में क्या-क्या बदलाव आए हैं, इसका निरुपण अत्यंत हृदय ग्राही है।

''जीवेम शरद: शतम्'' में ऊषाजी ने स्वस्थ रहते हुए शतायु होने के बीज-मंत्र दिए है। यम, नियम आसन, प्राणयाम, धारणा, ध्यान व समाधि पर प्रकाश डालते हुए व इन सबको खान-पान व जीवन-शैली के अनुरुप बनाने का विशेष महत्व बताया गया है।

स्वयं अत्यंत नियमित व अनुशासित जीवन जीते हुए भी ऊषाजी ने स्वयं को जीवन के हल्के-फुल्के पहलू से अनछुआ नहीं रखा है। उनके ''हास्य-व्यंग्य के संग, जीवन में रंग'' ने चिन्ता व तनाव व भागम-भाग के जीवन में हँसी बिखेरने का काम किया है, जो अत्यन्त सराहनीय है।

माँ दुर्गा से प्रार्थना है कि वे बहन ऊषाजी को स्वस्थ व दीर्घायु करें जिससे कि मुझ जैसे तनाव व चिन्ताओं से भरे मनुष्यों के लिए उनकी कृतियाँ निरंतर प्रेरणा व उत्साह का स्रोत बनी रहें।

दिनकर पगारे

226 अशोक नगर उदयपुर

प्रो॰ प्र. च. त्रिपाठी
भूतपूर्व अध्यक्ष
व्यवसाय प्रशासन विभाग
सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर

हाल ही में डा॰ ऊषा अग्रवाल द्वारा लिखित तीन पुस्तकें- 'जीवेम शरदः शतम्', 'औषध सम पोषक फल सब्जियाँ' और 'विदुर नीति' पढ़ीं।

विदुषी लेखिका ने जहाँ प्रथम दो पुस्तकों में **स्वस्थ तन** के हेतु सर्व रोगोपशमन आहार के महत्व को रेखांकित किया है, वहीं तीसरी पुस्तक (विदुर नीति) **स्वस्थ मन** पर केन्द्रित है।

बुद्धिमान् व्यक्ति को रोगोत्पत्ति के पूर्व ही ऐसा भोजन करना चाहिए जिससे कि रोगों की उत्पत्ति ही न हो और अपना स्वास्थ्य बना रहे। ''नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा। स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत।।'' जैसे नगर का स्वामी नगर की रक्षा में और सारथी रथ की रक्षा में तत्पर रहता है, वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर की रक्षा के कार्यों में तत्पर रहे। प्रथम दोनों पुस्तकों में कई अन्य फल-सब्जियाँ जोड़ कर (विशेष कर कम वर्षा वाले क्षेत्रों में उपयोगी) ये पुस्तकें और अधिक मूल्यवान बनाई जा सकती हैं।

तीसरी पुस्तक के आधार स्तम्भ महात्मा विदुर, महर्षि व्यास के पुत्र, पांडवों और कौरवों के चाचा और धृतराष्ट्र को सदैव ''यतो धर्मस्ततो जयः।'' की नीति पर चलने को कहते रहे। पुस्तक में वर्णित नीतियों के साथ यदि संबंधित परिस्थितियों का बोध भी कराया गया होता तो पाठक को इन का आज के परिप्रेक्ष में मूल्यांकन करना संभवतः अधिक सरल रहा होता।

लेखिका की सभी पुस्तकें हिन्दीभाषी क्षेत्र के लिए एक वरदान हैं। अल्प मूल्य होने से इन्हें परस्पर 'उपहार' (gift) के रुप में भी दिया जा सकता है।

प्र. च. त्रिपाठी

चाणक्य नीति

शासन-प्रशासन के लिए अनुशासन परमावश्यक है, राजा, राजकर्मचारियों के लिए और प्रजा के लिए भी। राजनीति में जितनी आवश्यकता नैतिकता की है उतनी ही कूटनीति एवं दण्डनीति की भी। 'भय विन होत नहीं प्रीति'। शत्रु एवं दुष्ट को "शठे शाठ्यं समाचरेत्" की नीति से ही वश में किया जा सकता है। रोग और शत्रु यदि शुरु में ही नष्ट न किए जाएँ तो सुख-चैन-सुरक्षा सम्भव नहीं है– यावद् ध्रियते एकोऽपि रिपुः तावत् कुतः सुखम्-? अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते-धूलि को कीचड़ रुप में परिवर्तित करके, पानी से दबाकर ही काबू में किया जाता है अन्यथा तो धूल पाँव से ठोकर लगने पर सिर पर चढ़ती है।

इसके अतिरिक्त सार्वभौमिक सत्ता, साम-दाम-दण्ड-भेद नीति का अनुसरण करने पर ही उपलब्ध एव स्थिर होती है। 'विपक्षमखलीकृत्य स्थितिः खलु दुर्लभा'। साथ ही 'वीर भोग्या वसुन्धरा' का सिद्धान्त भी मन में धारण करना आवश्यक है। दया करने वाले को तो दब्बु मान कर बलात्-हठात् उससे उसकी सम्पदा एवं अस्तित्व ही अपहृत कर लिया जाता है। 'कौटिल्य नीति' उपयुक्त है व्यावहारिक जीवन को उज्ज्वल एवं शिक्षित करने के लिए। विद्या-वाणी-व्यवहार-वित्त-विचार के साथ-साथ पत्नी-पुत्र-मित्र-शठ-मूर्ख-सज्जन-मन-कर्म आदि विचारणीय विषय हैं जिन का ध्यानपूर्वक पालन-अनुसरण किया जाय तो ही जीवन सुरक्षित-सुखमय है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

भवदीया
ऊषा अग्रवाल

डॉ॰ ऊषा अग्रवाल

डॉ॰ ऊषा अग्रवाल लाला सुलतान चन्द जी की सुपुत्री हैं। श्री सुलतान चन्द जी एस. चन्द ऐंड कम्पनी (स्थापना 1917) तथा सुलतान चन्द ऐंड संस (स्थापना 1950) के संस्थापक थे। भारतीय अध्यापकों द्वारा लिखित स्कूल तथा कालेज स्तर की पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशन के क्षेत्र में उन्होंने पथ प्रदर्शक का काम किया। राष्ट्रवाद की भावना तथा उच्च आदर्श उन्हें अपने पिता मास्टर अमीर चन्द जी (जन्म 1869) से मिले थे, जो स्वंय एक समर्पित अध्यापक, समाज सुधारक, देशभक्त तथा क्रान्तिकारी थे और जिन्हें 1915 में हार्डिग बम्ब काण्ड के साथ जुडे होने के कारण दिल्ली में मृत्यु दण्ड दिया गया।

डॉ॰ ऊषा अग्रवाल लेडी श्री राम महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय से संस्कृत से स्नातक एवं स्नातकोत्तर हैं तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से साहित्य आचार्य हैं। मैक्समूलर भवन, कस्तूरबा गांधी मार्ग से इन्होंने जर्मन भाषा पाठ्यक्रम में सफलता हासिल की है। इसके अलावा बंगाली भाषा पाठ्यक्रम में प्रथम स्थान पर रहने के कारण इन्हें मैडल भी मिल चुका है। ज्योतिष् पाठ्यक्रम में सफलता इनकी अतिरिक्त योग्यता है।

साढ़े तीन दशक इन्होंने राजकीय उच्चतम माध्यमिक विद्यालयों में अध्यापन एवं प्रशासनिक कार्यो में बिताया। इस दौरान हजारों विद्यार्थियों का मार्गदर्शन किया। विद्यालय में अच्छे परिणाम हेतु तथा उनकी संस्कृत में प्रकाशित कृतियों के लिये संस्कृत अकादमी द्वारा नकद ईनाम दिया जा चुका है। अनेक प्रशंसा पत्र और सर्टिफिकेट शिक्षा निदेशालय दिल्ली सरकार द्वारा मिल चुके हैं। डॉ॰ ऊषा अग्रवाल श्री सुलतान चन्द न्यास (ट्रस्ट) की अध्यक्ष हैं तथा सुलतान चन्द द्रोपदी देवी एजुकेशन फाउण्डेशन ट्रस्ट की संस्थापक ट्रस्टी हैं। इन न्यासों (ट्रस्टों) के संस्थापन का उद्देश्य धर्मार्थ कार्य करना है। डॉ॰ ऊषा अग्रवाल मैसर्स सुलतान चन्द एन्ड संस एजुकेशन पब्लिशर्स, नई दिल्ली की मुख्य व्यवस्थापक हैं। डॉ॰ ऊषा अग्रवाल की मानव मनोविज्ञान पर गहरी पकड़ है। वह संस्कृत तथा हिन्दी में उत्कृष्ट निपुणता रखती हैं। वह अपनी पुस्तकों के माध्यम से मानवीय मनोभावों और संवेदनाओं को उकेरने में सफल रही हैं।

डॉ॰ ऊषा अग्रवाल द्वारा प्रकाशित कृतियाँः

'सफलता', 'मन' 'कर्म', 'दुनिया आपके हाथ परिश्रम के साथ', 'आचार्य देवो भव', 'हास्य-व्यंग के संग-जीवन में रंग', 'वाणी-जीवन संजीवनी', 'हास्य-सुखद जीवन लास्य', 'उन्नति के शिखर पर', 'पञ्चतन्त्र' 'हितोपदेश' 'विदुर नीति', 'महाभारत-कथालोक', 'चाणक्य नीति', औषध सम पोषक फल-सब्जियाँ', 'जीवेम शरदः शतम्', 'Philosophical Approach to Allegorical Dramas in Sanskrit', 'संस्कृत व्याकरण दीपिका, 'संस्कृत वाङ्मय विमर्शिनी', 'संस्कृत कविता कादम्बिनी'।